प्रकाशक
राजराजेश्वरी पुस्तकालय,
गया।

प्रथम संस्करण २०००

मुद्रक:—
राजा लाल
राजा प्रिन्टिङ्ग प्रेस गया।

भूमिका

उस दिन कृष्णकुमार जी प्रस्तुत पुस्तक के छपे फरमे देते हुए कह गए कि मुझे शीघ्र ही एक भूमिका लिख देनी होगी। और मैंने भी बिना सोंचे-समझे भूमिका लिखना स्वीकार कर लिया।

अब, जो लिखने बैठा, तो पाता हूँ कि इधर कुछ दिनों से मेरी स्थिति ऐसी है कि न तो मैं ठोस भूमि-का (?) लिखने के योग्य हूँ और न वायवी आकाश का। ठोस विचार-भूमि पैरों के तले से मानो छिन गई है और कल्पना के वायवी आकाश में उड़ सकने की सामर्थ्य न तो कभी थी, न अब है।

बात यह है कि जिस संक्रांति-काल में हम जी रहे हैं उसमें ठोस कुछ भी नहीं रहा। कुछ भी ऐसा नहीं है जिसकी शक्ल प्रतिक्षण नहीं बदलती जा रही हो। जीवन के सिद्धान्त बदल रहे हैं, काव्य की परिपाटी बदल रही है, आलोचना के मानदंड बदल रहे हैं। आज का आलोचक किस सिद्धान्त-भूमि पर खड़ा रह कर समाज का और अपना सर्वाधिक कल्याण साधन कर सकेगा, किन मार्गों पर चल कर वह अपनी सार्थकता की उपलब्धि कर सकेगा —यह कहना जरा मुश्किल हो गया है। इस या उस सिद्धान्त-समूह को चरम और अन्तिम सत्य का प्रतिरूप मान लेने की भूल, मेरी समझ में, अब क्षम्य नहीं होना चाहिए।

पर, हमारी आशा इस परिवर्त्तन को प्रगति मानने का निमन्त्रण देती है। अनुभव कहता है—आत्म ही जीवन-रस से व्यक्तित्व का अभिषेक करती है। इस दृष्टि से आलोचक के लिए एक शाश्वत शर्त होनी चाहिए—आधुनिकता। क्योंकि, प्रगति की इस धारणा के अनुसार जो आधुनिक है, वह श्रेष्ठ है ही। और इस अर्थ में आलोचक श्री कृष्णकुमार सिन्हा 'आधुनिक' हैं। वे लिखने के समय तक प्रकाशित सभी सामग्रियों से परिचय प्राप्त करने का पूरा प्रयत्न करते हैं और यथासंभव उनसे लाभ उठाते हैं। चाहे उनकी दृष्टि में मौलिकता न हो, चाहे उनके विचारों में प्रौढ़ता न हो, पर जहां तक सामग्री-संकलन का सवाल है, कृष्णकुमार जी इसमें सिद्धहस्त हैं। वे जानते हैं कौन-सी चीज कहाँ मिलेगी और भरसक अपने पाठकों के लिए उपयोगी सामग्रियों को जुटाने का उद्योग करते हैं।

अतएव उनकी आलोचनाएँ विद्यार्थिओं के बड़े काम की होती हैं। प्रस्तुत आलोचना पुस्तक का भी महत्त्व मैं इसी दृष्टि से मानता हूँ। 'अजातशत्रु' नाटक पर अबतक उपलब्ध सामग्री का जैसा उपयोग ये कर सकते थे, इन्होंने अवश्य किया है। फलतः अजातशत्रु पर लिखी प्रस्तुत पुस्तक में पाठकों को प्रचुर सामग्री मिलती है। कई विद्वानों के विचार, सिद्धान्त, उद्धरण; कई स्रोतों से संकलित वृत्त; कई दृष्टिओं से अध्ययन-परीक्षण। कहा जा सकता है कि पुस्तक को आधुनिक युग के उपयुक्त बनाने का पूर्ण प्रयत्न लेखक ने किया है।

आलोचना- सिद्धान्तों के आधार पर लेखक के विचारों की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता की जाँच -पड़ताल विज्ञ पाठकों पर छोड़ मैं इस पुस्तक के प्रकाशन का अभिनन्दन करता हूँ। मेरा विश्वास है, पाठकों का एक बहुत बड़ा दल हिन्दी में ऐसा है जो इसे पढ़ कर अवश्य ही लाभान्वित होगा। मेरी, कामना है श्री कृष्णकुमार जी आलोचना क्षेत्र में दिनानुदिन उन्नति करें।

१०-७-५०
५२ नई गुदाम रोड,
गया।

प्रो० शिवनन्दन प्रसाद, एम.ए.

अपनी बात

प्रस्तुत पुस्तक तो सन् १९४८ में ही प्रकाशित हो गई होती परन्तु प्रकाशन-संबंधी अड़चनों ने आकर डेरा डाल रक्खा जिसके कारण इसका प्रकाशन ठप बोल गया। आलोचना-संबंधी पुस्तकों में यह मेरी चौथी पुस्तक है।

प्रसादजी के 'अजातशत्रु' पर आलोचनात्मक अध्ययन काफी निकले परन्तु सभी में अलग-अलग विशेषताएँ और त्रुटियाँ हैं। सभी विद्यार्थी सभी पुस्तकों को पढ़ नहीं सकते हैं—यही भावना पठन-पाठन के सिलसिले में काम करती रही और यदा-कदा मैं कुछ नोटस् लिखता रहा। प्रस्तुत पुस्तक प्रायः उन्हीं के आधार पर तैयार हुई है। विशेष सहायता के लिए उन पूज्य विद्वानों का कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थों से इस को सम्पन्न करने में विशेष सहायता मिली हैं। पुस्तक के फुटनोटों में सर्वत्र प्रमाणों के हवाले दिए गए हैं। जिस ग्रन्थ अथवा सामग्री का उपयोग हुआ है उसके आधारादि नीचे निर्दिष्ट है जिससे लाभ उठाया जा सकता है। पुस्तक के संबंध में कहना पड़ता है कि इसमें प्रायः सभी पुस्तकों के निबन्धों से अधिक निबन्ध हैं और इसके साथ-साथ गद्य और पद्य संदर्भों की व्याख्या भी परिशिष्ट में दे दी गई है जो किसी भी लेखक की कृतियों में नहीं है। आशा है, इससे विद्यार्थियों को विशेष सहाता मिलेगी।

हाँ, इस पुस्तक में जो भी विशेषताएँ हैं उनका श्रेय गुरुवर प्रो० शिवनन्दन प्रसादजी, एम. ए., साहित्यरत्न को है और त्रुटियों का उत्तरदायित्व मुझपर। इसके अतिरिक्त, उन्होंने इसकी भूमिका भी लिख दी है जिसके लिए कृतज्ञता प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। अतः उनकी हर प्रकार की उदारता से लाभ उठाकर भी बदले में कुछ देने में असमर्थ हूँ।

प्रकाशन-संबंधी सुविधाएँ मुझे श्रीयुत राजालालजी, अध्यक्ष, राज राजेश्वरी पुस्तकालय, गया से प्राप्त हुई तथा यह उन्हीं के परिश्रम का फल है कि प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों के सम्मुख आज रखी जा सकी। इसके लिए मैं उनका विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ।

त्रुटियों के लिए क्षमा करेंगे—यही मेरा विनीत आग्रह है।

६०, तूतबाड़ी, गया।
जुलाई ११, १९५०।

— कृष्णकुमार सिन्हा

विषय-सूची

जयशंकर प्रसाद

श्री जयशंकर प्रसाद हमारे आधुनिक साहित्य-जगत् के रवीन्द्र नाथ हैं। उन्होंने कवीन्द्र रवीन्द्र की तरह अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से हमारे साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति तथा पुष्टि की है। भले ही दोनों की प्रतिभा और अनुभूति में अन्तर हो, पर जिस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, चम्पू आदि साहित्य के सभी अंगों पर अपनी लेखनी से अनुपम कृतियों का निर्माण किया वैसे ही 'प्रसाद' जी ने भी साहित्य के सभी अंगों को अलंकृत किया। इन्हीं जयशंकर प्रसाद का जन्म माघ शुक्ल १२ सं० १९४६ को काशी के सराय गोवर्द्धन मुहल्ले में हुआ था। इनका जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित, धनी और उदार घराने में हुआ था और यह घराना 'सुँघनी साहु' के नाम से प्रसिद्ध है। इस घराने की प्रसिद्धि वैश्य समाज के बाहर भी है। इनके पितामह बाबू शिवरत्न साहु बड़े दानी और उदार पुरुष थे। इनके यहां कवियों, गायकों एवं कलाविदों का प्रायः जमघट लगा रहता था। 'इनके दादा इतने उदार थे कि सैकड़ों

का दान करना अपवाद की अपेक्षा नित्य का नियम ही अधिक बन गया। प्रातः काल से ही दीन-दुःखियों और विद्यार्थियों की भीड़ लगनी आरम्भ हो जाती। सुबह घर से निकलते कि यह सिलसिला शुरू हो जाता। शौचादि के लिए बाहर निकलते तो लोटा और वस्त्र तक न रखता। पिता भी कम न थे। हाँ, दादा की उदारता के साथ व्यवहार-बुद्धि भी उनमें थी। वह भी खूब हृष्ट-पुष्ट, कसरती और उदार थे। ऐसे कुल में जन्म पाकर, लड़कपन से करुणा, वैभव और कवि-समाज के वातावरण में रह कर धीरे-धीरे साहित्य और पद्य-रचना की ओर इनकी रुचि बढ़ी'। इनके पिता का नाम देवी प्रसाद जी और ज्येष्ठ भाई का नाम शम्भुरत्न जी था।

जयशंकर प्रसाद का बचपन खेल-कूद, दौड़-धूप में बीत गया और प्रायः वे बाल्यावस्था की स्मृतियां अपने प्रिय-मित्रों को सुनाया करते थे। शैशव में उन्हें व्यायाम करने का शौक था और वे सर्वदा व्यायाम किया करते थे जिससे उनके शरीर का गठन बहुत ही सुडौल एवं भव्य बना रहा। घोड़े की सवारी करने का भी शौक उन्हें था, इस सवारी ने उन्हें तेजोमय एवं स्फूर्तिमय बना दिया। वस्तुतः वे एक अच्छे सवार थे।

इनकी आरम्भिक शिक्षा घर पर शुरू हुई। इसके अनन्तर ये स्थानीय क्वीन्स कालेज में आये। वहाँ वे 'सातवें' दर्जे' तक पढ़ सके। ठीक उसी समय उनके पिता की मृत्यु हो गई। पिता के देहान्त के कारण बारह वर्ष की अवस्था में स्कूल की पढ़ाई छोड़नी पड़ी। उनके परिवार का सारा भार अग्रज श्री शम्भुरत्न

जी पर आ पड़ा। उनकी पढ़ाई की व्यवस्था घर पर ही हुई और विभिन्न विषयों के योग्य अध्यापकों की सहायता से उन्होंने हिंदी, संस्कृत, उर्दू और फारसी का अध्ययन किया। श्री दीनबन्धु ब्रह्मचारी उन्हें संस्कृत और उपनिषद् पढ़ाते थे। वेद और उपनिषद् का उन्हें विशेष ज्ञान था। इससे प्रसाद जी पर उनके शिक्षण संकेतों का विशेष प्रभाव पड़ा। इस प्रकार 'संस्कृत की ओर उनकी विशेष रुचि रही। इसी समय उनमें पुरातत्व साहित्य के अध्ययन का बीजारोपण हुआ जिसके फलस्वरूप आगे चलकर प्रसाद जी ने अपने प्राचीन साहित्य सम्बन्धी ज्ञान और बौद्ध-कालीन इतिहास, वेद, पुराण, उपनिषद्, स्मृति आदि गहन विषयों के अध्ययन से हिन्दी साहित्य को परिपूरित किया'।

प्रसाद जब पन्द्रह वर्ष की अवस्था के थे, तब उनकी माता का स्वर्गवास हुआ। इससे उनके हृदय को धक्का लगा। ठीक इसी दो वर्ष के बाद जैसे ही प्रसाद सत्तरह साल के हुए वैसे ही इनके अग्रज शंभुरत्न दास जी इस संसार से चल बसे। ऐसी असामयिक घटना से उनका जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। परिवार के सभी लोग चल बसे थे। आखिर करते क्या! सारे परिवार एवं व्यापार का दुर्वह भार किशोर जयशंकर के कन्धे पर आ पड़ा। जैसे ही इन्होंने परिवार का भार वहन किया वैसे ही इनके सामने दो बड़ी समस्याएँ आ खड़ी हुईं—एक तो यह कि पूर्वजों की अपूर्व दानशीलता एवं शाहखर्ची के हेतु जो पारिवारिक ऋण था, उसे अदा करना और दूसरा यह कि बालक जयशंकर के नाबालिगपन से इनके कुटुम्ब और सम्बन्धी जो नाजायज लाभ

उठाना चाहते थे उसे रोकना। इस समय उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित था। उनके ऊपर कठिनाइयों का बादल उमड़-घुमड़ रहा था अवश्य, परन्तु इस बीच रहते हुए भी उन्होंने अपना पठन-पाठन नहीं छोड़ा। इस प्रकार 'उनका अधिकांश समय साहित्यिक वातावरण में ही व्यतीत होता था। प्रसाद जी के जीवन में एक और ध्यान देने वाली घटना है, उन्हें स्वयं अपना विवाह करना पड़ा। पहली पत्नी का देहान्त हो गया, फिर दूसरा विवाह किया। दूसरी स्त्री की मृत्यु के पश्चात् उनके विचार गंभीर और ठोस हो गए थे। अब फिर से घर बसाने की उनकी लालसा न थी। कुछ समय बाद लोगों के समझाने पर और सबसे अधिक अपनी भाभी के शोकमय जीवन को सुलझाने के लिए, उन्हें बाध्य होकर तीसरा विवाह करना पड़ा। चि० रत्नशंकर तीसरी पत्नी की संतान हैं। प्रसाद जी अनेक आपत्तियों और विशेषतः ऋण के कारण अधिक चिंतित रहा करते थे। खानदानी दानशीलता और लम्बे खर्च के कारण वह अपनी स्थिति सुधारने में असमर्थ हो रहे थे।' लेकिन इन्होंने इन दो विकट संघर्षों को अच्छी तरह सहा और वे मुक्त होने में पूर्णरूप से सफल हुए। सम्वत् १९८७-८८ के बीच उन्होंने अपने परिवार का सारा ऋण अदा कर दिया।

इनके निवास-स्थान पर तो समस्यापूर्ति करने वाले कवियों का जमघट लगा ही रहता था—इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसी समस्यापूर्तिवाली धुन ने प्रसाद को अपनी ओर आकृष्ट किया और 'उस समय के काशी के अच्छे कवियों के सत्संग से बाल्यकाल से ही उनमें कविता के प्रति रुचि जाग्रत हो गई थी'।

वे लुक-छिपकर तुकबंदियां लिख लिया करते थे और इधर असमय में पड़ने वाली विपत्तियों ने उनके हृदय में घर कर लिया था—जिससे उनके हृदय में वेदना उत्पन्न हुई, टीस का जन्म हुआ और उसकी अभिव्यक्ति छन्द में हुई। प्रसाद का अल्हड़ कवि पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही दूकान पर बैठकर बही-खाते के रद्दी कागजों की पीठ पर कविता की आराधना किया करता। कवि की इस नादानी पर अग्रज शंभुरत्नजी रुष्ट भी हुए थे, क्योंकि उनके मन में शंका थी कि इससे व्यापार के काम में बाधा पड़ेगी। इसी कारण उन्हें डांट भी सुननी पड़ती पर 'छुट नहीं सकती काफिर मुँह की लगी हुई'। सन् १९०७-८ तक प्रसाद द्वारा व्रजभाषा में रचित कविताएं तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं।

संवत् १९६३ (या १९६४) में प्रसाद की सब से पहली कविता 'भारतेन्दु' में ही प्रकाशित हुई। इसके अनन्तर, प्रसादजी के आदेशानुसार उनके भानजे श्री अम्बिका प्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' नामक पत्र का प्रकाशन किया, जिसमें उनकी रचनाएं बराबर प्रकाशित होती रहीं। प्रसादजी की आरंभिक कविताओं का प्रथम संग्रह 'कानन-कुसुम' है, जिसकी अधिकांश कविताएं वही हैं जो इन्दु (१९०९–१६) में प्रकाशित हुई थीं। इसके उपरान्त जब खड़ी बोली के लिए आन्दोलन होने लगा तब इन्होंने द्विवेदी युग के अनुरूप खड़ी बोली में काव्य का सृजन करना आरंभ किया। नूतन भाव और नयी शैली की कविता लिखने वालों में प्रसादजी सर्व प्रथम हुए और उनकी कविताएँ 'इन्दु' में चमकने लगीं। वास्तव में १९१० ई० में प्रसादजी ने जिस साहित्य

का प्रणयन करना आरंभ किया था, उसका विकास और प्रचार क्रमशः होने लगा। जिस समय साहित्य-जगत में खड़ी बोली का आन्दोलन चल रहा था उसी समय उनकी दो कविता-पुस्तकें प्रकाश में आयीं—'महाराणा का महत्त्व' और 'प्रेम-पथिक'। इन दो काव्य-ग्रन्थों ने काव्य-साहित्य में उथल-पुथल पैदा कर दिया। आज भी आशा तथा उत्सर्ग से भरा हुआ यह उद्‌बोध कितने का कंठहार बना हुआ है—

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुंचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।'
—प्रेम पथिक]

आज जयशंकर प्रसाद हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक कवि माने जाते हैं। उन्हें संस्कृत के वृत रुचिकर थे, इसीलिए उन्होंने तुकविहीन कविताओं की रचना की परन्तु आगे चलकर इनके छन्दों ने भी अपना-अपना मार्ग निकाला। प्रसादजी कभी पिंगलानुसार छन्दों में, कभी उर्दू बहरों में, कभी स्वनिर्मित छन्दों में और कभी संगीत के लय के आधार पर कविताओं की रचना किया करते थे। उसी समय खड़ी बोली के लिए आन्दोलन हुआ था और कवि अन्तर्भावना की प्रगल्भ चित्रमयी व्यंजना के उपयुक्त स्वच्छन्द नूतन-पद्धति निकाल रहे थे। पीछे उस नूतन-पद्धति पर प्रसादजी ने भी कुछ छोटी-मोटी कविताएं लिखीं जो सं० १९७५ (सन् १९१८) में 'झरना' के भीतर संगृहीत हुई। 'झरना' की उन चौबीस कविताओं में उस समय नूतन पद्धति पर निकलती हुई कविताओं में कोई ऐसी विशिष्टता नहीं थी जिस पर ध्यान जाता। दूसरे संस्करण में, जो बहुत पीछे संवत् १९८४

में निकला, पुस्तक का स्वरूप ही बदल गया। इसमें आधी से ऊपर अर्थात् ३१ नई रचनाएं जोड़ी गई जिसमें पूरा रहस्यवाद, अभिव्यंजना का अनूठापन, व्यंजक चित्र-विधान सब कुछ मिल जाता है। वस्तुतः प्रसादजी हिन्दी के सर्वप्रथम छायावादी कवि थे क्योंकि 'आज से बहुत वर्ष पहले जब छायावाद के देवदूत पंत और निराला—विद्यालयों में 'कागजी कुसुम' और 'सिगरेट के धुआं' से खेला करते थे, एक मनस्वी कलाकार (प्रसाद) अपनी रंगीन अद्भुत प्रिय कल्पना और सौंदर्य-विभोर स्वस्थ भावुकता की डोरियों से इस युग का ताना-बाना बुन रहा था'। छायावाद का आरंभ प्रसाद की निम्नांकित पंक्तियों से होता है-

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे धीरे।

उस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्चल प्रेमकथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

और इनकी सबसे पहली विशिष्ट रचना 'आंसू' है। शायद छायावाद काव्य को एक विशेष स्थान, रूप एवं व्यक्तित्व देने का एकमात्र श्रेय इसी पुस्तक को है, न कि किसी अन्य पुस्तक को। इसके बाद 'लहर' में जयशंकर प्रसाद की प्रौढ़तम प्रगीतियों और मुक्त छन्द की कविताओं का संग्रह है, और 'लहर' के पश्चात् उन्होंने 'कामायनी' ऐसे महाकाव्य का दामन थामे-थामे रहस्यवाद को उस चोटी पर पहुँचा दिया, जहाँ जाकर रहस्यवाद

पंगु हो गया और वह आगे नहीं बढ़ सका। कामायनी ही प्रसादजी की अंतिम भेंट है। इस प्रौढ़तम रचना को लिखने के बाद एक वार उन्होंने श्री विनोदशंकर व्यास से कहा था—'कामायनी ही लिख कर मुझे संतोष हुआ है,'।

हिन्दी कथा-साहित्य में मौलिक कहानियों का श्री गणेश प्रसाद के ग्राम शीर्षक कहानी से होता है, जो सन् १६११ में 'इन्दु' (काशी) में प्रकाशित हुई। उन्हीं की सत्प्रेरणा से 'इन्दु' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ और इसका प्रकाशन भी हिन्दी कथा-साहित्य के लिये अमूल्य है। संवत् १६६६ में पांच कहानियों से सजी 'छाया' प्रकाश में आयी, जो उनकी प्रारंभिक कहानियों का प्रथम संग्रह है। परन्तु कुछ ही वर्षों के उपरान्त 'छाया' के तीसरे संस्करण में प्रसाद जी को संवत् १६६६ से संवत १६७५ तक लिखित ग्यारह कहानियां भी जोड़ दी गईं। उन्होंने नाट्य एवं काव्य-साहित्य की भाँति कथा-साहित्य को भी कीर्तिवान बनाया। प्रसाद की शैली कवित्वपूर्ण है जिसमें अध्ययन का आनन्द आता है। उनकी अधिकांश कहानियाँ प्राचीन-जीवन के साथ हमारे वर्त्तमान जीवन को सामने रखकर एक नये आदर्श की ओर संकेत करती हैं। प्रसाद जी ने अपना एक कहानीकार स्कूल बनाया और उनके मार्ग पर न जाने कितने कहानीकार आगे बढ़े। उन्होने सिर्फ ऐतिहासिक एवं सामाजिक कहानियां ही नहीं बल्कि छायात्मक कहानियां भी लिखीं। 'आकाशद्वीप' उनकी सुन्दर रचनाओं में से एक है। प्रसादजी की कहानियों के संबंध में कुछ आलोचक कहते हैं कि उनक

अधिकांश कहानियों में अस्वाभाविकता है पर उन्हें यह याद रखना चाहिए कि किसी रहस्य के बीच ही उनकी कहानियों के कथानक का विकास होता है। इसलिए इसमें स्वाभाविकता एवं अस्वाभाविकता का प्रश्न ही नहीं उठता। यथार्थ तो यह है कि उनकी कहानियां स्थूल जगत से संबंध न रखकर भाव-जगत से संबंध रखती हैं। उनकी कहानियों में एक मनोवृत्ति, हृदय का एक चित्र अथवा घटना की एक क्षीण रेखा होती है। इसी हेतु, उनकी कहानियाँ गद्य-काव्य का आनन्द प्रदान करती हैं। सत्य तो यह है कि उन्होंने वातावरण प्रधान कहानियां अधिक लिखी हैं। यों तो इस प्रकार की कहानियों के लिखनेवाले अन्य कहानीकार भी हैं पर प्रसाद अपने 'प्रसाद' गुण के कारण सबसे अलग हैं। "कवित्वपूर्ण वातावरण में, प्राचीन इतिहास के स्वर्णिम परिपार्श्व में, इस एक भावना से अनुप्राणित यह वातावरण प्रधान कहानी (आकाश-दीप) वास्तव में हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। कला की ऐसी तराश अन्यत्र दुर्लभ है। और जहां वातावरण और चरित्र दोनों का समभाव से सम्मिलित हुआ है वहां तो कलात्मक सौन्दर्य और साहित्यिक सौष्ठव दोनों साकार होकर एक दूसरे से लिपटते दीखते हैं। जिस तरह प्रसाद की कविता 'प्रेमपथिक' के साथ चलकर 'कामायनी' की ऊँची भूमि पर पहुँच गई उसी तरह उनकी कहानी भी 'प्रतिध्वनि, की नन्हीं चाल से आरम्भ कर 'इन्द्रधनुष' तक पहुँच गई। प्रसाद कहानी-क्षेत्र में भी एक स्कूल बन गए जहां कितनों की प्रतिभा ने प्रेरणा ग्रहण की और ट्रेन्ड हुई। प्रसाद के 'आकाश-दीप; रायकृष्ण दास के 'सुधांशु' तथा विनोदशंकर व्यास की 'तूलिका' में वस्तु

का कितना साम्य है ? वास्तव में 'आपकी कहानियाँ स्थायी साहित्य की चीजें हैं। उन्हें दो सौ वर्ष के बाद पढ़ने पर भी उतना ही मजा आयेगा जितना आज आता है"।

प्रसाद और प्रेमचंद दोनों अपने समय के महान कलाकार हैं। प्रो० केशरी कुमार एम० ए० के शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद और प्रसाद दोनों एक दूसरे के पूरक थे। प्रेमचंद ने हमारे वर्त्तमान जीवन की कठोर वास्तविकता की यथार्थ अभिव्यक्ति की और प्रसाद ने प्राचीन भारतीय जीवन के साथ हमारी आज की जिन्दगी को रखकर एक नवीन आदर्श की ओर संकेत किया। एक में व्यक्त घटनाएँ प्रधान हैं, दूसरे में व्यक्त व्यापार से अधिक अव्यक्त भावना को प्राधान्य मिला है। प्रेमचंद जीवन की मोटी साइकोलोजी पर चलने वाले थे और प्रसाद मानव हृदय की सूक्ष्म मनोवृत्तियों का विश्लेषण करने वाले। एक ने पुरुष-हृदय को पहचाना और दूसरे ने नारी हृदय के गहन अन्तस्तत्वों के स्पष्टीकरण में अधिक सफलता पाई। प्रेमचंद का कथोपकथन नाटकीय है जो कहीं मेलो-ड्रामेटिक (melodramatic) हो जाता है। प्रसाद का कथनोपकथन स्निग्ध और कवित्वपूर्ण है जिसमें अध्ययन का आनन्द आता है। एक की भाषा इतिवृत्ति के अनुरूप, प्रसाद पूर्ण, सजीव, उर्दू की लोच और रवानी से भरी 'मुहावरों की चुस्ती और कलाम की सफाई से युक्त है, दूसरे की भाषा एक पहुँचे हुए व्यक्ति की भांति बालसुलभ चपलताओं से हीन, धीर व्यक्तित्व लिए, खड़ी है। वह गंभीर इतनी है कि उसकी अतल गहराई में उतर कर उसका उचित मूल्यांकन करना एक टेढ़ी खीर है और फिर भी इतनी प्राणवती है

कि उसके सहारे अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप मिल जाते हैं। प्रेमचंद छोटे-छोटे वाक्यों में जो सूक्तियाँ देते हैं वे निजी अनुभव की देन होने के कारण हृदय पर पत्थर की लकीर की भांति अमिट प्रभाव छोड़ती हैं। प्रसाद रह रह कर अपनी रसात्मक पंक्तियों में जो कोमलतम भाव भरते हैं वे हमारे प्राणों में मधु घोल देते हैं और हममें सुरूर भर देते हैं। प्रेमचंद की कहानियों में एक डिजाइन है। वे एक निश्चित गति से आरंभ होती हैं और एक निश्चित परिस्थिति में उनका पर्यावसान होता है, जहाँ पाठक की सारी जिज्ञासाएँ एक बारगी शांत हो जाती हैं। प्रसाद की कहानियों का अंत अकस्मात् होता है। वे पाठक को शान्ति देने की जगह उनमें भावोत्तेजन (thought provocation) भरती हैं'।

प्रसाद कहानीकार ही नहीं बल्कि उपन्यासकार के रूप में भी प्रसिद्ध रहे। उनके तीन उपन्यास हैं—तितली, कंकाल और इरावती (अधूरा)। इन उपन्यासों का कथानक मौलिक हैं एवं उसके पात्रगण भी स्पष्ट हैं। उनके प्रत्येक उपन्यास में हमारे वर्त्तमान जीवन का इतिहास है। उनके उपन्यासों में 'तितली' सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसमें 'सम्मिलित कुटुम्ब की असामयिक योजना के विरुद्ध, जिसकी प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़ कर व्यक्ति की प्रतिभा का स्वतंत्र निर्माण नहीं कर सकती, आवाज उठाई गई है'। कंकाल में नागरिक जीवन का अंकन है और साथ-साथ इसमें समाज के खोखलेपन आदर्शों का एक कच्चा चिट्ठा है। तीसरा उपन्यास है इरावती, जो अपूर्ण है और उसकी कथावस्तु

बौद्ध कालीन युग से ली गई है। प्रसाद के उपन्यास 'वस्तुवादी कला के सर्वश्रेष्ठ' उदाहरण हैं

अब रहें प्रसाद के नाटक! हिन्दी नाटकों का लिखाजाना भारतेन्दु से आरंभ होता है परन्तु प्रसाद के पूर्व हिन्दी नाट्य साहित्य पर अंग्रेजी, संस्कृत एवं बंगला का प्रभाव था। मौलिक नाटकों के प्रणयन के लिए ही 'प्रसाद' नाट्य-साहित्य के रंगमंच पर अवतीर्ण हुए। वस्तुतः प्रसाद की नाट्य प्रतिभा ने इस क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनका सबसे पहला नाटक 'सज्जन' है जिसमें संस्कृत नाटकों की शैली एवं तत्वों का अनुकरण है। इस नाटक के आरंभ में नटी एवं सूत्रधार का वार्तालाप है और वह भी उसी ढंग पर जिस प्रकार संस्कृत नाटकों में विशेषतः पाया जाता है। संस्कृत नाटकों के अनुसार 'सज्जन' में भरत-वाक्य भी है। गीत-नाट्य के रूप में उन्होंने 'करुणालय' को प्रस्तुत किया जो एक वैदिक घटना का रूपान्तर है। इस नाटक में अतुकान्त पद्यों का प्रयोग हुआ है उसके बाद 'प्रायश्चित' है जिसके द्वितीय संस्करण में उन्होंने इन सब नाटकीय वस्तुओं को धीरे धीरे हटाया यहीं से उनकी एक विशिष्ट शैली का आरंभ होता है। नाटककार' प्रसाद का विकास किस प्रकार हुआ, इसके लिए उनके नाटकों की प्रकाशन--तिथियों को देखिये — जो यों हैं।

सज्जन	१९१०-११ ई०
कल्याणी परिणय	१९१२ ई०
करुणालय	१९१२ ई०
प्रायश्चित्त	१९१४ ई०

राज्यश्री	१९१५ ई०
विशाख	१९२१ ई०
अजातशत्रु	१९२२ ई०
जनमेजय का नागयज्ञ	१९२६ ई०
कामना	१९२७ ई०
स्कन्दगुप्त	१९२८ ई०
एक घूंट	१९३० ई०
चन्द्रगुप्त	१९३१ ई०
ध्रुवस्वामिनी	१९३३ ई०

प्रसाद के नाटकों के रचना-काल से यह ज्ञात होता है कि वे 'राज्यश्री' को 'अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक मानते हैं। 'राज्यश्री' हर्ष काल की वस्तु है। इसमें सम्राट हर्षवर्द्धन की बहन राज्यश्री की कथा है। अभिनय और रंगमंच की दृष्टि से यह नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है।

प्रसाद के पूर्व हिन्दी नाट्याकाश में कोई मौलिक नाटककार न था और उस समय हिन्दी नाटककारों के नाटक अंग्रेजी, संस्कृत एवं बंगला के अनूदित नाटक थे। उस समय रंगमंच पर पारसी ड्रामाओं की धूम थी। प्रसाद ने उस समय के रंगमंच को पहचान कर एक सच्चे युग-प्रवर्त्तक की तरह उन नाटकों से एक प्रेरणा ग्रहण की और इसलिए उन्होंने भारतीय नाट्यशैली का सुन्दर सम्मिश्रण किया है। 'विशाख' के वक्तव्य में स्पष्ट लिखा है कि प्रसाद जी की यह पहली कृति है, यद्यपि इसके पहले उनके राज्यश्री, करुणालय, प्रायश्चित आदि नाट्य निबन्धों की रचना

हो चुकी थी, किन्तु वे रूपकमात्र थे। नाट्य-कला-सम्बन्धी उनकी स्वतंत्र धारणा तो पहले-पहल इसी 'विशाख' द्वारा हिन्दी संसार में प्रकट हुई। वस्तुतः प्रसाद की नाटकीय शैली का स्वतंत्र विकास 'विशाख' से होता है और धीरे धीरे उत्कर्ष की अभीष्ट कोटि पर वे 'ध्रुवस्वामिनी' को लाकर रख देते हैं। 'विशाख' में काश्मीर-नरेश नरदेव की कथा है। उसके उपरांत 'अजातशत्रु' की रचना हुई। उसमें बौद्धकाल की कथा है। तदन्तर 'जनमेजय का नागयज्ञ' लिखा गया और वह पुराणों की वस्तु है। उनके ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त, कल्पनात्मक नाटक में 'कामना' का नाम आता है वह एक रूपात्मक नाटक (Allegorical) है। इसमें अभौतिक एवं आचरण जैसी प्रवृत्तियों का एक रूपक खड़ा किया गया है। उसके बाद 'स्कन्दगुप्त' की सृष्टि हुई है। उसमें गुप्त-साम्राज्य के प्रतापी साम्राट स्कन्दगुप्त की अमर गाथा है। 'चन्द्रगुप्त' मौर्यकाल के आरंभ की वस्तु है जिसमें सिकन्दर की चढ़ाई, मौर्य साम्राज्य की स्थापना एवं सेल्यूकस की चढ़ाई का वर्णन है। तत्पश्चात् 'एक घूँट' का महत्व है और इसमें मानव के उच्छृंखल प्रेम की हीनता को दिखलाने की चेष्टा की गई है। 'एक घूँट' में बर्नार्ड शा (Bernad shaw) की भाँति रंग संकेत अधिक विस्तृत और वर्णनात्मक है। इनका अन्तिम नाटक है—ध्रुवस्वामिनी। यह टेकनिक, भाषा, चिन्तन, भाव आदि की दृष्टि से अनुपम है। यह नाट्य साहित्य की स्थायी वस्तु है, नवीनयुग का विधायक है। इस प्रकार तेरहों नाटकों में तीन पौराणिक, एक प्रतीकात्मक, एक रूपकात्मक, एक अपूर्ण,

जिसका पुस्तक रूप में कोई पता नहीं है (कल्याणी-परिणय) और शेष ऐतिहासिक हैं।

इसके अतिरिक्त, जयशंकर प्रसाद ने उत्कृष्ट निबन्ध भी लिखे हैं। इनके निबन्ध तीन श्रेणियों में रखे जा सकते हैं—एक वे हैं जो चित्राधार में संकलित हैं, दूसरे भूमिका के रूप में लिखे गए निबन्ध हैं, तीसरे वे हैं जो उनकी मृत्यु के पश्चात् 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में संकलित हैं। उनके निबन्ध भी भाषा-शैली एवं विषय की दृष्टि से महत्व पूर्ण हैं।

सन १९३६ की बात है। लखनऊ में एक बड़ी भारी प्रदर्शनी थी। वहाँ से लौटने के कुछ ही दिन बाद २८ जनवरी १९३७ को बीमार पड़े और २२ फरवरी को डाक्टरों ने कह दिया कि उन्हें राजयक्ष्मा हो गया है। रोग धीरे धीरे बढ़ने लगा और स्वास्थ्य गिर गया। मन्दाग्नि एवं अजीर्ण की शिकायत होने लगी। डाक्टरों ने उन्हें काशी छोड़ देने की नेक सलाह दी पर उन्होंने नहीं छोड़ा। बीमारी के अन्तिम दिनों में उन्हें चर्म रोग का भी शिकार होना पड़ा था। ९, १० नवम्बर से उनकी दशा बिगड़ने लगी और ग्यारह नवम्बर १९३७ को साढ़े चार बजे हिन्दी का यह लाल सर्वदा के लिए लुट गया।

—::०::—

हिन्दी नाट्य-साहित्य का उद्भव और विकास—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृत व्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोक चरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्॥

मालविकाग्निमित्रम्।

साहित्य की उत्पत्ति तथा उसके स्वरूप की चर्चा करने के समय ही नाटक की उत्पत्ति का प्रश्न हमारे सामने आ खड़ा होता है। जब हम नाट्य-साहित्य पर विचार करते हैं तब सबसे पहली बात हमारे ध्यान में आती है—नाटकों का अभाव। यह तो कटु सत्य है कि हिन्दी-साहित्य में आज नाटक का अभाव ही है। ऐसा क्यों? इसकी उत्पत्ति तथा उसके स्वरूप पर आलोकपात करना अनिवार्य हो जाता है।

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मानव एक चैतन्य प्राणी है और उसे अनुकरण की प्रवृत्ति ईश्वर-प्रदत्त है। इसी अनुकरण-प्रवृत्ति ने नाट्य-कला को जन्म दिया।* श्री रसिक लाल पारीख ने अपने एक भाषण में स्पष्ट बतलाया है कि नाटक की उत्पत्ति कहाँ से और कैसे हुई है। नाटक में प्रायः सभी कलाओं का संकर रहता है

1 *The art that holds the mirror up to nature by personating different characters and by representing different costumes and gestures is the dramatic.

Late Dr, R. N. Tagore.

लेकिन इसकी एक विशेषता यह है कि इसमें यथार्थता का अनुकरण सजीव साधनों के द्वारा किया जाता है। काव्य मीमांसक इसकी चर्चा काव्य तथा साहित्य के रूप में करते हैं १।

आलंकारिक भामह २ ने नाटक को 'अभिनेयार्थ' कहा है—

नाटकं द्विपदीशम्यारासकस्कन्धकादि यत्
उक्तं तदभिनेयार्थम्.........। २४ प्र० प०

अभिनय के लिये 'नृत्य' का होना अति आवश्यक है और इसमें इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

'नाटक' शब्द संस्कृत के 'नट्' धातु से बना है ३. जिसका अर्थ है-नर्तन अथवा नृत्य करना। इसके अन्तर्गत नृत्त अर्थात् अभिनय का भी भाव आता है। इससे अनुमान कर सकते हैं कि सम्भवतः इस कला के प्रारंभिक काल में नृत्य का ही प्राधान्य रहा होगा यधपि इसके वर्त्तमान विकसित रूप में नृत्य का अंश नहीं के के ही बराबर है।

'आर्यों क प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के देखने से पता चलता

---

१. देखिये—भामहालंकार—'चतुर्धा भिद्यते पुनः। सर्गबन्धो ऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।' और Modern study of Literature by Moulton. Page 15-17।

२ देखिये—'प्रतापरूद्रयशोभूषण। को क० प्रा० त्रिवेदी संपादित भूमिका।

३. नाट्यमिति च 'नट अवस्यंदने' इतिनटेः किंचिच्चलनार्थत्वात्सत्त्विक बाहुल्यम्। अतएव तत्कारिपु नटव्यपदेशः।
दशरूपक पर धनिक की टीका।

है कि 'नत्' ४ और इसी प्रकार के दूसरे शब्दों का प्रयोग आठ-नौ बार किया गया है। नृत्य करने वालों की उपमा में 'नृत्यतामित्र' कहा गया है ५, इन प्रयोगों से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि 'ऋग्वेद'-कालीन जन-समाज में इस कला का अस्तित्व तो अवश्य था; किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उस समय कथावस्तु का 'अभिनय' द्वारा दिग्दर्शन कराया जाता था।' ऋग्वेद-साहित्य में कई सूक्त हैं, जिनमें दो व्यक्तियों के बीच संवाद भी हैं। इनमें यम और यमी (१०।११), पुरुरवा और उर्वशी (१०।९५), नेम भार्गव और इन्द्र (८।१००), अगस्त, लोप मुद्रा और उनके पुत्र (१।१७९). इन्द्र, अदिति और वामदेव (४।१८), इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकर्म (१०।८६),सरमा और पणिगण (१०।१०८), अग्नि और देवगण (१०।५१-५३), विश्वामित्र और नदीगण (३।३३), वशिष्ठ और उनके पुत्र (७।३३), इन्द्र और मरुद्गण (१।१६५ और १७०) प्रभृति ही उल्लेखनीय हैं। इसके अलावे भी अनेक 'एक जनोक्ति' (Monologue) के दृष्टान्त वर्त्तमान हैं। दो व्यक्तियों के कथनोपकथन के बीच कभी-कभी दो से अधिक व्यक्ति मौजूद रहते हैं। इसमें जो वार्तालाप

---

४ विद्वानों का कहना है, प्राकृत भाषा का 'नट्' संस्कृत के 'नृत्' से मिलता हुआ है, देखिये —

Monier Williams Sah Eng. Dictionary और Webers History of Indian Literature Page 197

५ (१०—७२—६ ऋ० इसी प्रकार 'अधिवेशांसिवपते नृतूरिव' (१-९२-४) भी मिलता है। यजुर्वेद में 'शैलूषः' शब्द मिलता है, उसका अर्थ 'नट' होता है। मं० १० सू० १०। मं० १० सू० ९५। मं० १० सू० ८९।

(Diologue) है, वे सब अत्यन्त दुर्बोध एवं क्लिष्ट हैं जिन्हें 'वार्तालाप' की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

ऋग्वेद के संवादात्मक सूत्र 'अभिनय रूप' में कब परिवर्तित हुए, यह अज्ञात है। इसका पता अनुसंधान पर ही निर्भर करता है। मानव के अन्दर अभिनय करने की प्रवृत्ति सहज है। जब वह किसी भी वस्तु को देखता है, तब उसमें एक 'अभिनय' का आभास पाता है और उसीका अनुकरण करने में संलग्न हो जाता है। अतएव इस प्रकार भावों के अनुकरण के साथ अभिनय विशेष संवक हो जाता है। अस्तु, हम देखते हैं कि मानव के स्वतंत्र व्यवहार में ही अभिनय का अभिनिवेश है।

'आख्यान कहने की प्रथा प्रायः बौद्धिक विकास की समकालीन है। जंगली जातियों में भी यह प्रथा पायी जाती है। यही क्या, जबसे बालक समझने लगता है, तभी से कथा सुनने और कहने की प्रवृत्ति रखता है। यज्ञयागादिक में आख्यान कहना विनोद का एक मुख्य साधन समझा जाता था।[६] ये आख्यान साधारण अभिनय कहे जाते थे। अतः उद्दीपन-कार्य-एवं भाव-प्रसंग दिखलाने के समय अभिनय का उपयोग किया जाना स्वभाविक है। (बाण भट्ट की कथा में यह बहुत बार

---

६. ऐतरेय-ब्राह्मण में राजसूय-यज्ञ के समय 'शुनः शेप' आख्यान तथा 'आख्यानविद्' आदि होते थे। vedic Inex Vol. L. P. 52. नाटक के प्रचलित होने के पश्चात भी आख्यान दिखाई देते थे। वात्स्यायन-कामसूत्र के विद्या-समुद्देश्य प्रकरण में 'आख्यान-दुर्दर्क' देखिये।

देखा जाता है।) भावों को तन्मयतापूर्वक दिखलाने में अभिनय किया जाय तो श्रोताजनों को उद्देश्य समझने में समय नहीं लगता। संभव है, नाटक का आरंभ इसी तरह हुआ हो, जैसे कथा के निरूपण में साधारण विषय का वर्णन करते समय उसका भावमय कहा जाना अथवा किसी भावमय प्रसंग को साभिनय पद्य एवं गायन तथा संवादरूप में दिखलाया जाना या बीच-बीच में जहाँ आवश्यकता हो, कथा का एक व्यक्ति के द्वारा कहा जाना, शेष भाग का अन्य व्यक्ति द्वारा भावमय दिखलाया जाना। ये सभी 'नाटक' के अंग ही हैं। बस, यही नाटक का प्रारंभिक स्वरूप हो सकता है। यही कारण है कि अभिनय को ही नाटक कहा गया है। 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्, ही नाटक की परिभाषा है। नाटकों के सम्बन्ध में कुछेक विद्वानों का कथन यह है कि इसका बीज वैदिक संवादों में ही है और वैदिक काल में बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर उसका अभिनय हुआ करता था। इसका उल्लेख सोमयाग के अवसर पर आया है। इसमें तीन पात्र थे—यजमान, सोम विक्रेता और अध्वर्यु। यह सत्य है कि यह एक याज्ञिक क्रिया है; परन्तु उसका कार्य अभिनय -- सा प्रतीत होता है।

दूसरी ओर अभिनय का आरंभ तब पाते हैं जब मानव का प्राण संकट में पड़ जाता था और उससे छुटकारा पाने के लिये देवताओं का पूजन-अर्जन होता था। यह पूजन-अर्चन सिर्फ मंत्रोच्चाटन के द्वारा ही सम्पन्न नहीं होता था बल्कि अभिनय के द्वारा भी। इस प्रकार नाटक को भी देवताओं को प्रसन्न करने

का 'एक यज्ञ' मान सकते हैं। महाकवि कालिदास ने लिखा है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्।

'अभिनय' के प्रारंभ का यह दूसरा कारण है। अभिनय (Immitation) के मुख्यतया निम्न भेद किये जा सकते हैं।

(क) वाह्यानुकरण—जिसमें केवल किसी व्यक्ति के बाहरी वेश-भूषादि का अनुकरण किया जाता है।

(ख) चेष्टात्मक—जिसमें वेशभूषा के अनुकरण के साथ ही व्यक्ति-विशेष की चेष्टाओं, आंगिक क्रियाओं और कार्यों आदि का अनुकरण होता है।

(ग) वागनुकरण—इसमें पात्र अन्य अनुकरणों के साथ स्वर और बोलने के ढंग का भी अनुकरण करता है।

इन रूपों के अलावे, अनुकरण को हम फिर से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—प्रथम, यथार्थानुकरण जिसमें अनुकरण सर्वथा सत्य एवं स्वाभाविक होता है। दूसरा आनुमानिक, जिसमें किसी व्यक्ति की चेष्टादि के अनुमान पर अनुकरण आधारित होता है। जिस प्रकार के अनुकरण में अनुमान की ही आवश्यकता रहती है, उसे हम अनुकरणाभास कह सकते हैं, क्योंकि वास्तविक अनुकरण के स्थान पर उसमें उसका आभासमात्र प्रदर्शित किया जाता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि नाटक का आरंभ धार्मिक उत्सवों से हुआ है। प्रायः प्रत्येक देश में कुछ धार्मिक उत्सव होते हैं जिनमें नृत्य, गायन, और अनुकरण युक्त कौतुकों की प्रधानता है। प्रायः धनधान्य की उपजवाली ऋतुओं में किसी प्रमुख देवता को लक्ष्य करके उसकी कृपा के उपलक्ष में तत्कीर्ति कीर्त्तन आमोद-प्रमोद के साथ किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कीर्ति कीर्त्तन का उद्देश्य सिर्फ मनोरंजन ही नहीं बल्कि मानवोपकारिणी शक्ति का समर्थन करना है। देवताओं के पूजन अर्चन के उपरान्त नाटकों में वीर-पूजन का भी भाव सन्निविष्ट किया गया। इस प्रकार के उत्सव जापान, चीन, दक्षिण अमेरिका और ब्रह्मा आदि में भी मनाये जाते हैं। इस द्वितीय रूप में प्रायः पूर्वज वीरों और प्रसिद्ध पुरुषों के जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन भी किया जाता था। भारतवर्ष में भी कुछ उत्सव इस प्रकार के मनाये जाते हैं। इन उत्सवों का स्वरूप अब बहुत कुछ बदल गया है। नृत्य और संगीत का समावेश संभवतः केवल मनोरंजनार्थ ही किया गया था। कुछ दिनों के उपरान्त इनमें अभिनय भी किया जाने लगा और उसकी ही प्रधानता मान्य ठहरी। कदाचित इसीलिये नाटक की दूसरी संज्ञा 'रूपक' है— 'तद्रूपारोपात्तु रूपकं'। किन्तु इनमें वागनुकरणादि का अंश बहुत समय के उपरान्त आया है। प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख हमें प्राप्त होते हैं!

भारतीय विद्वानों का मत है कि नाटक का प्रारंभ वेदों से कुछ ही समय उपरान्त हुआ है और प्रायः यह कार्य त्रेता युग के

लिये छोड़ रखा गया। यों तो नाटक की उत्पत्ति के संबंध में अनेक बातें कही जाती हैं, पर उनमें से भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में दी हुई कथा का अधिक महत्त्व है। इस शास्त्र के प्रथमाध्याय में एक कथा दी हुई है और इसमें नाटक के विषय में लिखा हुआ है कि—

आत्रेयादि ऋषिवरों ने भरतमुनि से प्रश्न किया—

नाट्यवेदः कथं चायमुत्पन्नः कस्य वा कृते ?

कत्यङ्गः ? किंप्रमाणश्च ? प्रयोगश्चास्य कीदृशः ?

(अर्थात् यह नाट्य वेद किस प्रकार उत्पन्न हुआ, किनके लिये इसकी आवश्यकता हुई, कौन-कौन से इसके अंग हैं, इसका आधार क्या है, और इसका प्रयोग किस प्रकार किया जाय ?)

इसके उत्तर में भरतमुनि ने कहा— "एक बार वैवस्वत मनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुःखित हुए। इस पर इन्द्र तथा दूसरे देवताओं ने जाकर ब्रह्मा से प्रार्थना की कि—

क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत् ॥ ११ ॥

न वेद व्यवहारोऽयं ※ संश्राव्य शूद्रजातिषु ।

तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ॥ १२ ॥

(कहने का तात्पर्य यह है कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिये, जो दृश्य एवं श्रव्य भी हो। शूद्र जाति के लिये वेद का व्यवहार उपयोगी नहीं है, इसीलिए नवीन पंचम सर्वजातीय वेद का सृजन कीजिए)

※ निर्णय-सागरीय मुद्रित प्रति में 'वेदविहिरोह्य' ऐसा पाठ है। यहां पर यह पाठ 'ग्रासेट' के फ्रेंच संस्करण से दिया गया है।

इस पर ब्रह्मा ने उनको आश्वासन दिया और ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर देवताओं के मनोरंजन के लिये पंचम वेद-नाटक-की रचना की। ७ विश्वकर्मा ने रंगमंच का निर्माण किया; शंकर ने ताण्डव तथा पार्वती ने लास्य नृत्य दिये और विष्णु ने चार नाट्य-शैलियां प्रदान कीं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने निम्नलिखित श्लोक से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि नाटक की रचना वेदों के समान ही हुई है—

इहानु क्रियते ब्रह्मा शक्रेणाभ्यासितः पुरा।
चकारा कृत्य वेदोभ्यो नाट्यवेदञ्च पञ्चमम्॥

यही है—नाटक के उद्भव का रहस्य। भरतमुनि ने इस नवीन आविष्कार का प्रचार पृथ्वी पर किया। यद्यपि यह कथा वैज्ञानिक महत्व नहीं रखती किन्तु यह अवश्य सूचित करती है कि नाटक के प्रमुख तत्व वेदों में वर्त्तमान हैं और वहीं से वे लिए गये हैं।

नाटक की उत्पत्ति के इसी आधार पर कह सकते हैं कि भारतवर्ष में नाटक की रचना का प्रारंभ वैदिक-काल में ही हो चुका था, लेकिन हम लोग उसके यथार्थ-रूप से अपरिचित हैं। यह सत्य है कि उस युग में नाटक की रचना होती थी और वे खेले भी जाते थे, जिसका प्रमाण भी उपलब्ध है। प्राचीन ग्रन्थों में से रामायण और महाभारत प्रमुख है तथा दोनों में नाटक

---

७ जग्राह पाठ्य मृग्वेदात् सामभ्यो गीत मेव च।
यजुर्वेदाद भिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

शब्द का उल्लेख है। ८ संस्कृत का आदि-काव्य रामायण है, जिसमें नाटकों का वर्णन है (वधुनाटक संघैश्चसंयुक्ताम् सर्वतः पुरीम्--१४-५ अध्याय बालकाण्ड ।) । महाभारत में नट् शब्द का प्रयोग हुआ है, पर इससे यदि नाटक के अभिनेता का अर्थ लिया जाय तो नाटक का उस समय तक प्रचार होना निश्चित हो जाय पर पाश्चात्य विद्वान संस्कृत नाटकों की इतनी प्राचीनता मानने को तैयार नहीं हैं और नट शब्द का केवल नृत्य करनेवाला अर्थ लेते हैं।' हरिवंश पुराण में जो महाभारत से थोड़े ही समय पश्चात् रचा गया, उसमें रामजन्म और कौवेर रंभाभिसार नामक नाटक के अभिनय का वर्णन है। कौवेररंभाभिसार नामक नाटक में प्रद्युम्न ने नलकूबर का, शूर ने रावण का, साम्ब ने विदूषक का, गद ने पारिपार्श्व का अभिनय किया था। इसी नाटक में मनोवती ने रंभा का अभिनय किया जिसमें यह स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियां भी रंग मंच पर अभिनय करती थीं, यद्यपि मध्यकाल में स्त्रियों ने इसमें भाग लेना छोड़ दिया था। इसी सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि उक्त नाटक में कैलाश और आकाश मार्ग से चलने के दृश्य भी दिखलाये गये थे। अतएव यह निश्चित है कि उस समय भारतीय नाट्यकला का यथेष्ट विकास हो चुका था। अग्नि पुराण में भी दृश्यकाव्य की विवेचना की गई है। जैनमत प्रवर्तक महावीर स्वामी के

---

८ वादयन्ति तथा शान्ति लास्यन्त्यपि चापरे ।

नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च । वा० रामायण,२,६९,४

नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिक कारकाः । महाभारत २,१३,२६

समकालीन विद्वानों के ग्रन्थों से नाटक का उस समय में प्रचलित होना सिद्ध होता है। श्रीभद्रस्वामी ने अपने कल्प सूत्र में साधुओं के लिये नाटक के देखने का निषेध किया है। रामायण में केवल दोही एक स्थल ऐसे हैं जहां नट एवं नर्त्तक मनोविनोद करते हुए दिखाए गये हैं। व्यामिश्रक शब्द भी रामायण में मिलता है किन्तु यह शब्द नाटक सम्बन्धी एक पात्र-विशेष का ही द्योतक है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। दूसरा शब्द जिसका सम्बन्ध नाटक से है, कुशीलव है (=पात्र) किन्तु यह शब्द भी संदिग्ध ही है। नाटक का ऐतिहासिक ज्ञान हमें व्याकरणाचार्यों के समय से अच्छी तरह मिलता हैं। महर्षि पाणिनी (लगभग तीसरी शताब्दी पूर्वेसा) ने अपने अष्टाध्यायी नामक व्याकरण-ग्रन्थ में नाट्य शास्त्र और उसके दो पमुख आचार्यों-शिलालिन् और कृशाश्व-का उल्लेख किया है जिससे यह कहा जा सकता है कि पाणिनी से भी पूर्व नाट्यकला और नाट्य-शास्त्र का अच्छा विकास हो चुका था। महर्षि पतञ्जलि (पाणिनि के लगभग डेढ़ शताब्दी बाद) ने पाणिनि के ग्रन्थ पर भाष्य करते हुए भूतकाल के स्थान पर वर्त्तमान काल के प्रयोग का संकेत किया है और इसके लिए नाटक के अभिनय का दृष्टान्त दिया है। इसके साथ उन्होंने शोभाणिकों के द्वारा खेले जाने वाले कंसवधी और बालिवध नामक नाटक का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि उनके समय में भी नाटक अपने पूर्ण विकसित रूप में थे। इन प्रमाणों के अतिरिक्त पुरातत्व विभाग के खोजों ने यह प्रमाणित किया है कि भारत में नाट्य कला का विकास ईस्वीं शताब्दी से बहुत पूर्व हुआ था। रामगढ़

(सुरगुजा स्टेट में) की एक गुहा में एक प्रेक्षागृह या रंगशाला अब भी अपने जीर्ण-शीर्ण दशा में विद्यमान है। इसका निर्माण सुतनुका नाम की एक देवदासी ने कराया था। यह बात उसके समीपवर्ती अशोकस्तंभ की लिपि से प्रकट है। इसी प्रकार कतिपय अन्य प्राचीन स्थानों में रंगशालाओं की स्थिति पायी जाती है।

यह स्पष्ट है कि ईस्वी शताब्दी से कई सौ वर्ष पूर्व भारत में अच्छे नाटक लिखे जा चुके थे। कौटिल्य कृत अर्थ शास्त्र से जो भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का समकालीन ही माना गया है, उससे यह पता चलता है कि ईस्वी शताब्दी के लगभग चार सौ वर्ष पूर्व संस्कृत में कई सुन्दर नाटक लिखे जा चुके थे। श्री सुभट कृत दूताङ्गद और बौद्धकालीन श्रीभास कवि कृत नाटक बन चुके थे, किन्तु उस समय के नाटक अब अप्राप्त हैं। लेकिन हाल ही में (अर्थात् बीसवीं शताब्दी के आरंभ में) दक्षिण में तेरह नाटकों की एक हस्त लिखित प्रति प्राप्त हुई थी, जो अब निश्चित रूप से भास की मान ली गई है। भास के नाटक अति प्राचीन हैं। उनके निम्नलिखित नाटक हैं—स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, चारुदत्त, प्रतिमा, बालचरित, ऊरुभंग, पंचरात्र, रामदत्त, दूतवाक्यम्, मध्यमव्यायोग, कर्णभरण, दूत घटोत्कचम्, अभिषेक नाटकम, और अविमाकम्। संस्कृत साहित्य क्षेत्र में कालिदास के नाटक सुविख्यात हैं, लेकिन उनका समय जो बौद्ध-काल समझा जाता था, वह वस्तुतः नाटक-रचना-कला के विकास का मध्य युग सूचित करता है। कालि-

दास ने मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी और अभिज्ञान शाकुंतल लिखे हैं जिनमें नाटकीय तत्वों के अतिरिक्त, पुष्कलमात्रा में काव्य - कला पायी जाती है। कालिदास के उपरान्त सातवीं शताब्दी में श्री हर्ष ने रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नाटिका और नागानन्द नाटक लिखे थे। शूद्रक कृत मृच्छकटिक नामक नाटक सर्वांगपूर्ण होकर संस्कृत साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। यद्यपि आलोचकों का मत है कि यह कविवर भास कृत चारुदत्त नामक नाटक पर समाधारित है। ८वीं शताब्दी में संस्कृत के नाट्य क्षेत्र में कविवर भवभूति और उनके नाटक विशेष श्लाघनीय और अवलोकनीय हैं। भवभूति ने नाट्य शास्त्र के नियमों की कुछ अंशों में अवहेलना तो की है किन्तु सराहनीय सफलता के साथ। इनके रचे हुए उत्तर राम चरित्र, महावीर चरित्र और मालती माधव प्रशंसनीय हैं।

९वीं शताब्दी में भट्ट नारायण ने वेणी संहार और विशाख-दत्त ने मुद्राराक्षस नाटक लिखे। इसके अनन्तर, श्री राज शेखर कृत बाल रामायण और कर्पूर मञ्जरी भी अच्छे नाटक माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त मुरारी, जयदेव, क्षेमीश्वर, आदि संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार हैं। इतने समय में नाटक-रचना-कला में नाटककारों के द्वारा बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया गया। दसवीं शताब्दी में धार-राज मुंज (९७४-९५ वि०) के मन्त्री विष्णु के पुत्र धनंजय ने नाट्य शास्त्र के आधार पर अपना मौलिक मत देते हुए दशरूपक नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा जिसमें नाटक के भिन्न-भिन्न अंगों और तत्वों पर बड़ी गंभीरता और गवेषणा के

साथ विचार किया गया है। ग्यारहवीं शताब्दी में श्री कृष्ण मिश्र ने प्रबोध चन्द्रोदय नामक उत्तम नाटक लिखा। सम्भवतः यही शताब्दी संस्कृत साहित्य और संस्कृत नाटकों का अवसान-काल है। इसी शताब्दी से जैसा हिन्दी इतिहास लेखकों का मत है कि हिन्दी साहित्य का उदय प्रारंभ होता है।

यों तो बारहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम-काल तक नाटक-रचना का कार्य एक प्रकार से स्थगित ही रहा फिर भी ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद इसकी चर्चा दक्षिणात्य में ही अधिक रही। इस समय से लेकर भारतेन्दु तक सभी संस्कृत के नाटकों का पद्यमय अनुवाद है। इसी बीच मैथिली बोली में नाटकों का प्रणयन हुआ, लेकिन इसमें संस्कृत का समन्वय हैं। उमापति उपाध्याय ने पारिजात हरण और रुक्मिणी-परिणय नाटक लिखा। इसकी भाषा में संस्कृत-प्राकृत का मिश्रण है। ईसा की चौदहवीं शताब्दी में जब हरिसिंह देव नैपाल चले गए और वहाँ मैथिल राज्य की स्थापना की तब मिथिला के अनेक विद्वानों को इनकी सभा में राजाश्रय मिला। उन विद्वानों ने नाटकों की रचना की और उन नाटकों का अभिनय उनके दरबार में होता था। मैथिल नाटककारों में—हर्षनाथ झा, भानूनाथ झा और लाल झा—के नाम उल्लेखनीय हैं।

हाँ, इस स्थल पर यह प्रकाश डालना अति आवश्यक है कि नाटक-रचना का कार्य क्यों एक प्रकार से स्थगित रहा? इसका मुख्य कारण यह है कि ईसा की सातवीं सताब्दी में हर्ष वर्धन

की मृत्यु के बाद भारतीय राजनीतिक जीवन छिन्न-भिन्न और अराजकता पूर्ण हो गया था। देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया और नरेश पारस्परिक कलह और युद्ध विग्रह में अपनी शक्ति का ह्रास करने लगे। इसी समय के लगभग देश का निकटवर्ती मुसलमानी देशों से सम्पर्क स्थापित हुआ। प्रारंभ में यह सम्पर्क व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान तक सीमित रहा। किन्तु शीघ्र ही बढ़ते हुए इस्लाम धर्म के साथ भारतवर्ष पर मुसलमानी आक्रमण होने लगे। देश की अराजकतापूर्ण परिस्थिति से आक्रमणकारियों ने भरपूर लाभ उठाया और अनेक घोर युद्धों और कठिनाइयों के बाद उन्होंने अपना राज्य स्थापित कर लिया। उस समय देश में अभिनय-कला के दो प्रधान केन्द्र थे, राज्य सभा और देव मन्दिर। दोनों स्थानों के विध्वंस हो जाने के कारण कला के प्रचार को यथेष्ट आघात पहुँचा। दूसरे, विजयी आक्रमणकारियों का धर्म नाट्य-कला की अनुमति नहीं देता था। उनका राज्य स्थापित हो जाने के बाद निश्चित रूप से उसका ह्रास हुआ। उस समय के आक्रमणकारियों में धार्मिक जोश भी बहुत था। इसलिए वे कुरान के आदेशों के प्रतिकूल बातें सहन न कर सके हों तो कोई आश्चर्य नहीं। बाद को मुगल बादशाहों ने संगीत तथा अन्य ललित कलाओं को आश्रय दिया, किन्तु नाटक का वे फिर भी आदर न कर सके। जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में अंगरेजी साहित्य ने नाट्य-रचना को प्रोत्साहन दिया, उस प्रकार भारतीय इतिहास के मध्ययुग में संस्कृत विद्या का ह्रास और हिन्दी तथा अन्य जन भाषाओं में नाट्य-रचना की परम्परा न होने के अतिरिक्त अरबी-फारसी साहित्य ने कोई प्रोत्साहन न

दिया, यद्यपि भारतीय संगीत, चित्रकला, वास्तुकला आदि पर विदेशी प्रभाव पड़े बिना न रह सका। इतिहास-लेखकों का मत है कि उस समय भी मुसलमानी प्रभाव से दूर दक्षिण में संस्कृत नाटकों की रचना और अभिनय-कला का प्रचार बराबर बना रहा। ऐसे स्थानों में जहां मुसलमानी प्रभाव विशेष था उच्चश्रेणी के नाट्य-साहित्य और अभिनय-कला का पतन हो गया। केवल गांवों में रूपक के कुछ हीन भेदों का प्रचार बना रहा। आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अवध-दरबार में अमानत कृत 'इन्दर सभा' (१८५२) नामक गीति-नाट्य ने जन्म लिया। उस समय तक मुसलमान अपनी धार्मिक कट्टरता बहुत कुछ खो चुके थे। सैयद गुलाम हुसैन ने 'सैरुलमुताखरीन' में लिखा है कि नवाब सिराजुद्दौला, मीर जाफर, मीर कासीम, मीरन, अवध के नवाब सिजाउद्दौला, आदि बसन्तोत्सव, होलिकोत्सव, दिवाली, आदि मनाते थे। अवध के नवाबों में तो इस प्रकार की इस्लाम के खिलाफ शौकीनियों का और भी प्रचार था। स्वयं वाहवी आन्दोलन का ध्येय भारत के मुसलमानों को विशुद्ध इस्लाम धर्म का रूप बताना था। इसलिए 'इन्दर सभा' का मुसलमानी दरबार में जन्म लेने और शुरू के मुसलमान आक्रमणकारियों की धर्मान्धता में कोई सम्बन्ध नहीं है। सच तो यह है कि बक्सर की लड़ाई (१७६४) के बाद अवध दरबार पर अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों, प्रधानतः पहले, के माध्यम द्वारा पाश्चात्य प्रभाव काफी पड़ा। अवध नरेशों में यूरोपीय खाने-पीने, वेशभूषा, खिलौनों, चित्रों, दवाइयों आदि का शौक पैदा हो गया था। अंग्रेजों का अनुकरण

कर उन्होंने भी अपने राज्य में (उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में) सती, बाल हत्या, अंग-भंग करने और नपुंसक बनाने आदि की प्रथाएँ बन्द कर दी थीं। मशीनों और कल-पुरजों में भी वे दिलचस्पी लेने लगे थे। हिन्दी प्रदेश के मध्य भाग में अवध अंग्रेजों के काफी सम्पर्क में आया। वहां यूरोपीय राजदूतों, धर्मप्रचारकों, सैनिकों और यात्रियों का जमघट रहता था। अवध के प्रति अंग्रेजों की शुरू की जैसी नीति बनी रहती तो निस्सन्देह उस राज्य में यूरोपीय सभ्यता के साथ सम्पर्क के फलस्वरूप बड़े अच्छे-अच्छे और महत्वपूर्ण परिणाम निकलते। इसी यूरोपीय प्रभाव के कारण अवध के मुसलमानी दरबार में 'इन्दर सभा' का जन्म हो सका था न कि इसलिए कि इस्लाम धर्म में नाट्य कला को प्रोत्साहन देने की शक्ति थी। अराजकतापूर्ण परिस्थिति के कारण भी मध्ययुग में नाट्य-कला का ह्रास हुआ। क्योंकि नाट्य-कला, गायन-वादन आदि के लिए शान्तिपूर्ण वातावरण का होना नितान्त आवश्यक है!

इस प्रकार भारतीय इतिहास के मध्ययुग में नाट्य-कला उठ-सी गई। परन्तु आधुनिक खोज से चौदहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक कुछ नाटक नाम से पुकारी जानेवाली रचनाओं का पता चला है। चौदहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध मैथिली कवि विद्यापति ने 'रुक्मिणी हरण' और 'पारिजात हरण'; विक्रम की सतरहवीं शताब्दी में केशवदास ने 'विज्ञानगीता' कृष्णजीवन ने 'करुणाभरण' हृदय राम पंजाबी ने 'हनुमान नाटक' यशवन्त सिंह ने 'प्रबोध चन्द्रोदय'; विक्रम

की अठारहवीं शताब्दी में निवाज कवि ने 'शकुन्तला', देव ने 'देवमाया प्रपञ्च'' आलम ने 'माधवानल कामकन्दला'' और विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में महाराजा विश्वनाथ सिंह ने 'आनन्द रघुनन्दन', मंजु ने 'हनुमान' नाटक'' कृष्ण शर्मा साधु ने 'रामलीला विहार नाटक'' हरि राम ने 'जानकी राम चरित्र नाटक' और ब्रजवासीदास ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' आदि नाटक लिखे।❀ परन्तु नाटक की रीति के अनुसार उनको नाटक नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। वे या तो अनुवाद हैं या उनमें रामायण और महाभारत की कथाओं का पद्यात्मक वर्णन है। आधुनिक नाटकों की भाँति उनमें पात्र-प्रवेशादि कुछ नहीं है, यद्यपि एक ओर पात्रों के नाम लिखे अवश्य मिल जाते हैं। और न उनमें चरित्र-चित्रण और कार्य-व्यापार ही मिलता है। उनमें नाट्याभिनय का कोई स्थान नहीं है और सब की रचना काव्य की भाँति है। परन्तु उनमें और रामलीला तथा रासलीलाओं में एक बात समान रूप से मिलती है। वे धार्मिक कथानकों को लेकर चलते हैं और उनका क्षेत्र संकुचित है। नाट्य-कला के दुर्दिन में उनका जन्म हुआ था। विदेशी जाति के सम्पर्क से उनको कोई उत्तेजना नहीं मिली। ऐसी हालत में नाट्य-कला की विशेष उन्नति होना सम्भव नहीं था।' हां, यह कह देना अप्रासंगिक नहीं है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रीवानरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनन्द रघुनन्दन, नाटक को सबसे प्रथम सर्वांगपूर्ण सुन्दर नाटक माना है। यद्यपि इसमें पद्यों की प्रचुरता है पर सब संवाद

❀'एकम हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का कार्य-विवरण, पृ०सं० १२३-२४ आर। भारतेन्दु कृत 'नाटक' 'भारतेन्दु नाटकावली (१९२७); पृ०सं० ८६६।

व्रजभाषा गद्य में है। अंक-विधान और पात्र-विधान भी है। हिन्दी के प्रथम नाटककार के रूप में ये चिर-स्मरणीय हैं। वस्तुतः यह एक उत्कृष्ट नाटक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि 'भारतेन्दु के पहले नाटक के नाम से जो दो-चार ग्रन्थ व्रजभाषा में लिखे गये थे, उनमें महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक को छोड़कर और किसी में नाटकत्व न था'। इसी के अनुकरण में प्रभावती नामक नाटक भी लिखा गया। श्री गोपाल चन्द्र उपनाम गिरिधर दास (१८३३-६०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनका 'नहुष' नाम का नाटक विशुद्ध नाटक रीति के अनुसार १८५६ में लिखा गया। यह नितान्त मौलिक एवं सराहनीय है। अब यह नाटक अप्राप्य है। यह स्मरणीय है कि इन सभी नाटकों की भाषा व्रजभाषा ही रही है और प्रायः इनमें काव्य की ही प्रधानता रही है। वास्तव में हिन्दी नाटक रचना का प्रारंभ भारतेन्दु के समय से ही होता है। भारतेन्दु के पूर्व राजा लक्ष्मण सिंह की ख्याति मुख्यतः कालिदास के रघुवंश, मेघदूत तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल के अनुवादों पर स्थित है। इन अनुवादों में खड़ी बोली का पुट अधिक है किन्तु भाषा व्यापक रूप से व्रजभाषा प्रभावित-सी है। इस तरह देखने पर स्पष्ट होता है कि अब तक के नाटकों में तीन विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं—(क) अधिकांश नाटक अनुवाद के रूप में हैं। (ख) वे धार्मिक और पौराणिक हैं, पर व्रजभाषा में लिखे हुए हैं। (ग) उन नाटकों में पद्य का प्राचुर्य है, गद्य का प्रयोग नाममात्र के लिए हुआ है।

आधुनिक हिन्दी नाट्य-साहित्य का काल भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय से आरंभ होता है। उन्होंने हिन्दी नाट्य-क्षेत्र में वस्तुतः युगान्तर-सा उपस्थित किया है। उन्होंने छोटे बड़े सब मिला कर बीस नाटक लिखे जिनमें कुछ तो न्युनाधिक रूप से संस्कृत नाटकों के स्वतंत्र अनुवाद हैं, कुछ केवल छाया-नुवाद और कुछ नितान्त मौलिक हैं। कहा जा सकता है कि हिन्दी नाटकों का उदय अनुवाद से ही प्रारंभ हुआ। न केवल संस्कृत के ही नाटक हिन्दी में अनुवादित किये गए हैं वरन् बङ्गला और अंग्रेजी के भी नाटकों का अनुवाद हुआ है। नाटक-रचना को प्रोत्साहित करते हुए भारतेन्दु जी ने नाट्य-शास्त्र की रचना की ओर भी संकेत किया था। यद्यपि इस विषय पर आज तक कोई भी सर्वांगपूर्ण सुन्दर ग्रन्थ हिन्दी में नहीं आ सका इधर फिर भी बाबू श्याम सुन्दर दास ने इस विषय पर 'रूपक रहस्य' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सब से पहले 'विद्या सुन्दर' नामक बङ्गला नाटक का सुन्दर हिंदी में अनुवाद करके संवत १६२५ ई० में प्रकाशित किया। और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाम का सबसे पहला मौलिक नाटक उन्होंने १६३० ई० में लिखा। भारतेन्दु प्रणीत नाटक ये हैं—

मौलिकः—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चन्द्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अन्धेर नगरी, प्रेम जोगिनी, सती प्रताप (अधूरा)।

अनुवादः—विद्या सुन्दर, पाखंड, विडंबन, धनंजय-विजय कर्पूर-मञ्जरी, मुद्रा राक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र, भारत-जननी।

वास्तव में हिन्दी-नाट्य-साहित्य के जन्मदाता होने का सेहरा भारतेन्दुजी को ही दिया जा सकता है। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' (१८७५) मौलिक नाटक होते हुए भी पौराणिक आख्यान तथा चंड कौशिक के आधार पर लिखा हुआ नाटक कहा जा सकता है। 'भारत-दुर्दशा' में देश की शोचनीय अवस्था का रूप आँका गया है। 'नीलदेवी' में स्त्रियों का वीरतापूर्ण कौशल दिखलाया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि उन्होंने नाटकों की रचना-शैली में मध्यम-मार्ग का अवलंबन किया है। न तो बंगला के नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एक बारगी से छोड़कर उन्होंने अंग्रेजी नाटकों की नकल की और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में ही अपने को फँसाया। उनके बड़े नाटकों में प्रस्तावना बराबर रहती थी। पताका, स्थानक आदि के प्रयोग भी कहीं-कहीं रहा करते थे। जो भी हो, उनके कुल नाटकों को हम तीन कोटियों के अन्तर्गत रख सकते हैं-वे हैं-(क) सामाजिक और राजनीतिक नाटक (ख) पौराणिकानाटक और (ग)प्रेम-सम्बन्धी नाटक। 'पहले दो का साहित्यिक मूल्य कम है, यद्यपि संख्या में वे तीसरे से बहुत अधिक हैं। उसके लेखक धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक कथानकों को कई अंकों में विभाजित कर, उसके परिणाम को अंत में रखकर अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ बैठे हैं। उनकी रचनाओं में कलात्मकता और विचार-गाम्भीर्य के दर्शन नहीं होते। प्रेम-सम्बन्धी कृतियों में रस, अलंकार, आदि साहित्यिक तत्वों का समावेश है।' भारतेन्दु बाबू ही उस युग के ऐसे कलाकार थे, जिनकी प्रेरणा से लोगों ने हिन्दी नाटकों की रचना करना आरंभ किया। उस समय के नाटककारों में बाबू श्रीनिवासदास का नाम

सबसे पहले आता है। उन्होंने प्रह्लाद चरित्र, तप्तासंवरण (१८८३), संयोगिता-स्वयंवर (१८८५), रणधीर-प्रेममोहिनी (१८७८) की रचना की। रणधीर-प्रेममोहिनी हिन्दी का पहला दुःखान्त नाटक है और यह 'रोमियो एंड जूलियट' के ढंग की है। प० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' कृत 'भारत-सौभाग्य' विस्तार के कारण रंगमंच के योग्य न था और इसमें १९० पात्रों का संघटन है। भारतेन्दुजी के समकालीन लेखकों के नाटकों में श्री तोताराम कृत 'कैटो कृतान्त'; प० गदाधर भट्ट कृत 'रेल का विकट खेल', बाल-विवाह' तथा 'चन्द्रसेन'; रावकृष्णदेव शरण सिंह कृत 'माधुरी रूपक'; आदि उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु-काल के अन्तिम समय में श्री राधाकृष्णदास जी का आगमन हुआ। उन्होंने चार नाटक लिखे हैं, जिनमें 'दुःखिनी बाला' सामाजिक नाटक, महारानी पद्मावती और 'महाराणा प्रताप' ऐतिहासिक नाटक और 'धर्मालाप' एक धार्मिक नाटक है। इनके नाटकों में 'महाराणा प्रताप' (या राजस्थान केसरी') को प्रसिद्धि अधिक मिली। श्री केशवराम भट्ट ने 'सज्जाद-संबुल' और 'समशाद-सोसन' नाम के दो नाटक लिखे, जिनमें उर्दू के शब्दों की भरमार है। 'रायदेवीप्रसाद जी' पूर्ण' ने 'चन्द्रकला भानुकुमार' नामक एक बहुत बड़े डीलडौल का नाटक लिखा पर वह साहित्य के विविध अंगों से पूर्ण होने पर भी वस्तु-वैचित्र्य के अभाव तथा भाषणों की कृत्रिमता आदि के कारण उतना प्रसिद्ध न हो सका। बंगला के कुछ नाटकों के अनुवाद बाबू रामकृष्ण वर्मा के बाद भी होते रहे पर उतनी अधिकता से नहीं जितनी अधिकता से उपन्यासों के। इससे नाटक की गति बहुत मंद रही। हिन्दी-प्रेमियों के उत्साह

से स्थापित प्रयाग और काशी की नाटक-मंडलियों (जैसे, भारतेन्दु नाटक मंडली) के लिये रंगशाला के अनुकूल दो एक छोटे मोटे नाटक अवश्य लिखे गए पर वे साहित्यिक प्रसिद्धि न पा सके। प्रयाग में पं० माधव शुक्ल जी और काशी में पंडित दुर्गवेकर जी अपनी रचनाओं और अनूठे अभिनयों द्वारा बहुत दिनों तक दृश्य-काव्य की रुचि जगाए रहे। इसके उपरांत बंगला में श्री द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों की धूम हुई और उनके अनुवाद हिन्दी में धड़ाधड़ हुए। इसी प्रकार रवीन्द्र बाबू के कुछ नाटक भी हिन्दी रूप में लाए गए। 'इस प्रकार हमें भारतेन्दुयुगीन नाटकों में निम्न-लिखित विशेषताएं दृष्टि गत होती हैं—(क) प्रस्तावना की अवहेलना (ख) सामाजिक-पौराणिक विषयों की ओर नाटककारों का झुकाव। (ग) गद्य की भाषा में उर्दू का पुट (घ) नाटकों में हास्य एवं व्यंग्य का पुट अधिक और (ङ) ऐतिहासिक नाटकों की रचना।

इन मौलिक नाटकों के पश्चात् हिन्दी-नाट्य-साहित्य में अनुवाद का युग आया। उस समय संस्कृत, बंगला एवं अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद हुआ। यों तो अनुवाद की पद्धति पहले से ही चली आ रही थी परन्तु इस युग की कृतियों में एक साहित्यिक सौन्दर्य आ गया था।

संस्कृत के अनुवाद—संस्कृत के नाटकों का अनुवाद करने में लाला सीताराम बी० ए० और पं० सत्यनारायण कविरत्न ने खूब हाथ बटाया। लाला सीताराम के अनूदित नाटकों में नागानन्द मृच्छ कटिक, महावीर-चरित, मालती-माधव और उत्तर राम चरित

बहुत ही सफल हुए हैं। भाषा सरल एवं प्रवाह युक्त है। 'यद्यपि पद्यभाग के अनुवाद में लाला साहब को वैसी सफलता नहीं हुई पर उनकी हिन्दी बहुत सीधी सादी, सरल और आडम्बर शून्य है। संस्कृत का भाव उसमें इस ढंग से लाया गया है कि कहीं संस्कृतपन या जटिलता नहीं आने पायी है।' पं० सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के दो प्रसिद्ध नाटक उत्तरराम चरित और मालती-माधव का हिन्दी में अनुवाद किया और वे दोनों अनुवाद अत्यन्त ही सरस एवं सरल हुए हैं। उन दोनों के अनुवाद में मूल भावों की यथासाध्य रक्षा की गई है, पर कहीं-कहीं छोकर, सिदौसी आदि से शब्दों का ठीक रूप देने में भाषा दुरूह एवं अव्यवस्थित हो गयी है। उन्होंने श्लोकों का अनुवाद ब्रजभाषा के छन्दों में ही किया है। पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने कई मौलिक तथा अनुवाद ग्रन्थ लिखे। मिश्रजी ने सीतावनवास नाम का एक नाटक लिखा, जो अच्छा बन पड़ा है। उन्होंने 'वेणी संहार' और 'अभिज्ञान-शाकुंतल' का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किये। उन्होंने संस्कृत की 'रत्नावली नाटिका' का भी अनुवाद करना आरम्भ कर दिया था पर वे पूरा नहीं कर सके। इस रत्नावली नाटिका का पूरा अनुवाद बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से कर डाला। उनका यह अनुवाद गद्य-पद्य-मय है और कविता भी बहुत सुन्दर बन पड़ी है।

अंग्रेजी के अनुवाद--सन् १८७९ ई० में तोताराम वर्मा ने जोसेफ़ ऐडीसन लिखित 'केटो' (Cato) नामक सरस नाटक का 'केटो कृतांत' के नाम से हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया। विदेशी

नाटकों का जो अनुवाद हो रहा था, उसमें यह पहला अनूदित नाटक था। उन्होंने इसका अनुवाद प्रस्तावना सहित अनेक छन्दों में संस्कृत नाटकों के ढंग पर किया था। जहाँ तक हमें विदित है, वह नाटक प्रकाशित नहीं हो सका। इटावां निवासी रत्न चन्द (ज० स० १८९७) ने 'कामेडी आफ एरर' (Commedy of Error) का स्वतंत्र हिन्द अनुवाद 'भ्रमजालक' नाम से किया। जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ एम. ए. ने शेक्सपियर के कई नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया है। उन्होंने 'एज यू लाइक इट' (As you like it) का मनभावन के नाम से, रोमियों एंड जूलियट (Romeo and Juliet) का प्रेमलीला के नाम से तथा मर्चेंट आफ वेनिस' (Merchant of Venice) का वेनिस का व्यापारी के नाम से अनुवाद किया। भाषा आदि की दृष्टि से अनुवाद अच्छे उतरे हैं। लेकिन इन्होंने पद्यात्मक अंशों का अनुवाद गद्य मे किया है। जबलपुर की आर्या नामक महिला ने 'मर्चेंट आफ वेनिस' का अविकल अनुवाद 'वेनिस नगर का व्यापारी' नाम से प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक की भूमिका सर एडविन आर्नल्ड, सी. एस. आई. ने लिखी है। इसकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसके पद्यांशों का अनुवाद पद्य ही में दिया गया है। इसका पद्यात्मक अनुवाद बनारस कालेज के पं० सूर्य प्रसाद मिश्र के द्वारा हुआ है। उपाध्याय बदरी नारायण चौधरी के अनुज पं० मथुरा प्रसाद चौधरी ने शेक्सपियर के 'मैकबेथ' (Macbeth) का अनुवाद 'साहसेन्द्र साहस' के नाम से किया। डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने लिखा है—१८९३ में मिर्जापुर के मथुरा प्रसाद उपाध्याय, बी. ए. ने शेक्सपियर के

(Macbeth) का 'साहसेन्द्र साहस' के नाम से स्वतंत्र अनुवाद किया लेकिन शुक्ल जी के नाम से भिन्न है। यह कुछ भ्रामक लगता है। इनके अनुवाद की भाषा संस्कृत गर्भित एवं यत्र-तत्र पूर्ण संस्कृत हो गई है। इसके अनन्तर सं० १९६७ के आस-पास 'हैमलेट' (Hame let) का अनुवाद 'जयंत' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जो वस्तुतः मराठी का अनुवाद है।

बंगला से अनुवाद— पं० रूपनारायण पाण्डेय ने 'आहुति' 'अथवा जयपाल' किसी अज्ञात नाटककार की कृति का अनुवाद किया है। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोस के 'पतिव्रता', क्षीरो प्रसाद विद्याविनोद के 'खान जहां' 'रविबाबू के अचलायतन' और राजा वो रानी' तथा द्विजेन्द्र लाल राय के 'उस पार' 'शाह जहाँ,' 'दुर्गा-दास', 'तारा बाई' आदि अनेक बंगला नाटकों का अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त, कृष्ण कुमारी, बुद्धचरित आदि के भी वे ही अनुवादक हैं। प्रायश्चित प्रहसन, मूर्ख - मंडली आदि भी उन्हीं की रचना है। इनकी भाषा अच्छी खासी हिन्दी है और वे मूल भावों का व्यक्त करने में पूर्ण रूप से समर्थ हैं।

अनुवादों के अतिरिक्त इस युग में मौलिक नाटकों का भी प्रणयन हुआ। इस अनुवाद युग के मौलिक नाटककारों में सर्व-प्रथम मथुरा-बृन्दावन-निवासी प० किशोरी लाल गोस्वामी (जन्म स० १९२२) ई० ने 'चौपट चपेट प्रहसन तथा 'मयंक मञ्जरी' नाटक लिखे, जो दोनों करीब-करीब एक ही समय प्रकाशित हुए हैं। 'चौपट चपेट' में शुद्ध त्रिया-चरित्र की एक कथा को रूपक का रूप प्रदान किया गया है जिसमें चरित्रहीन और छल कपट से

श्री स्त्रियों तथा लुच्चों लफंगों आदि के बीभत्स और अश्लील चित्र अंकित किए गए थे।' इसमें अश्लीलता की हद कर दी गई है। इस प्रहसन की नायिका चंपकलता है, जिसके मुख से ऐसे संवाद कहलवाए गए हैं, जो वस्तुतः वेश्याओं के मुख पर ही विद्यमान रहते हैं। 'मयंक मञ्जरी' पांच बहुत बड़े बड़े अंकों का नाटक हैं। इसमें प्रेमलीला का वर्णन है और यह शृंगार रस से पूर्ण है। इसकी रचना स० १६४८ ई० में हुई थी। कवि सम्राट स्व० पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने रुक्मिणी परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' नाम के दो नाटकों का सृजन किया। इनके 'रुक्मिणी-परिणय' नाटक में नान्दी, प्रस्तावना, नौ अंक और एक अतिरिक्त अंक भी है। इसकी कथावस्तु संगठित एवं चरित्र-चित्रण भी सुन्दर है परन्तु अभिनयात्मकता की दृष्टि से अनुपयुक्त है। इसके उपरान्त उन्होंने किसी अन्य नाटक को लिखने का उपक्रम नहीं दरसाया। पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने 'सीता वनवास' नामक एक नाटक लिखा, जो अच्छा बन पड़ा है। इनके ज्येष्ठ भ्राता पं० बलदेव मिश्र ने 'प्रभास मिलन', 'मीरा बाई' एवं 'लल्ला बाबू' नामक तीन सुन्दर रूपक लिखे हैं। आरा जिला निवासी बाबू शिवनंदन सहाय (ज० स० १६१७) ई० ने 'सुदामा' नाटक गद्य और पद्य में लिखा है। आचार्य शुक्ल ने इस युग की प्रवृत्तियों के सम्बंध में लिखा है—इन मौलिक रूपकों की सूची देखने से यह लक्षित हो जाता है कि नाटक की कथा-वस्तु के लिए लोगों का ध्यान अधिकतर ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों की ओर ही गया हैं। वर्तमान सामाजिक और पारिवारिक जीवन के विविध उलझे हुए पक्षों के सूक्ष्मता के साथ

निरीक्षण करके उनके मार्मिक या अनूठे चित्र खड़ा करने वाली उद्भावना इनमें नहीं पायी जाती। इसी बीच कल्पित कथा वस्तु लेकर लिखा जानेवाला बहुत बड़ा मौलिक नाटक कानपुर के प्रसिद्ध कवि राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' का चंद्रकला भानुकुमार है। पर यह भी इतिहास के मध्य युग के राज-कुमारों और राज कुमारियों का जीवन सामने लाता है। उन्होंने इस नाटक को शुद्ध साहित्यिक उद्देश्य से ही लिखा था, अभिनय के उद्देश्य से नहीं। वस्तु-विन्यास में कुतूहल उत्पन्न करने वाला जो वैचित्र्य होता है उसके न रहने से कम ही लोगों के हाथ में यह नाटक पड़ा। ललित और अलंकृत भाषण के बीच बीच में मधुर पद पढ़ने की उत्कंठा रखने वाले पाठकों ने ही अधिकतर इसे पढ़ा।' * इसी बीच रंगमंच की दृष्टि से लिखने वाले नाटककारों में पं० नारायण प्रसाद 'बेताब', पं० राधेश्याम कथावाचक, श्री हरे कृष्ण जौहर, विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल' और श्री युत् आगाहश्र काश्मीरी आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन लोगों ने नाटकों का प्रणयन साहित्यिक दृष्टि से न कर व्यावसायिक दृष्टि से किया और इसीलिए जनता की दृष्टि से सफल बन पड़े। दिल्ली-निवासी प० नारायण प्रसाद 'बेताब' ने 'गोरखधन्धा' 'रामायण', 'पत्नी प्रताप', 'सती अनुसूया' 'कृष्ण-सुदामा', 'महा भारत' और 'रामायण' आदि की रचना की, जो सभी अभिनीत होते रहे। उन्होंने इस प्रकार के नाटकों की रचना कर उर्दू-प्रधान नाटकों की ओर जनता की रुचि को मोड़ा। उनके नाटकों में 'महाभारत' और 'रामायण' की बहुत दिनों तक

---

*हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल पृ० स० ५९६।

आदि है जिसमें 'मुक्ति का रहस्य' सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने गरुड़ध्वज नामक एक ऐतिहासिक नाटक भी लिखा है।

पं० उदय शंकर भट्ट ने अधिकत्तर पौराणिक नाटकों की रचना की है और उनके नाटकों में 'दाहर या सिंधपतन', 'विक्रमादित्य', 'कमला', 'अंबा', 'विश्वामित्र' 'सागर विजय' और 'मत्स्य-गंधा' है।

पं० गोविन्दबल्लभ पंत ने 'वरमाला', 'राजमुकुट', 'अंगूर की बेटी' लिखी है। इनमें वरमाला एक पौराणिक आख्यान है और राजमुकुट का इतिवृत ऐतिहासिक है। 'वरमाला' अभिनयोपयोगी एवं सुपाठ्य नाटक भी है

सेठ गोविन्द दास ने कर्त्तव्य, हर्ष, प्रकाश, विकास, सेवापथ, स्पर्द्धा आदि नाटकों का निर्माण किया है। इस प्रकार उन्होंने सामाजिक, पौराणिक एवं ऐतिहासिक, सभी प्रकार के नाटकों की रचना की है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने नाटक के तत्वों का गहन एवं विस्तृत अध्ययन किया है।

इसके अतिरिक्त बहुत से लेखकों ने एक दो नाटकों को लिख कर इस क्षेत्र में प्रवेश किया है। इस सम्बन्ध में बहुत सा नाम प्रस्तुत किया जा सकता है। पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने कृष्णार्जुन-युद्ध नामक एतिहासिक नाटक लिख कर काफी ख्याति प्राप्त की। इसमें चरित्र-चित्रण स्वाभाविक बन पड़ा है और अल्पमात्रा में हास्य भी है। मिश्रबन्धुओं ने तीन नाटक लिखे हैं—'नेत्रों-मीलन', 'पूर्व भारत' और 'शिवाजी'। पं० बद्रीनाथ भट्ट ने

'चुङ्गी की उमीदवारी', 'वेनचरित्र', 'तुलसीदास', 'चन्द्रगुप्त', 'दुर्गावती' 'मिस अमरीकन' आदि नाटकों की रचना की है। उनके नाटकों में 'दुर्गावती' ने काफी प्रसिद्धि प्राप्त की। मैथिली शरण गुप्त ने 'चन्द्रहास' नाम का एक ऐतिहासिक नाटक लिखा है। पं० राम नरेश त्रिपाठी ने 'जयन्त', 'चन्द्रालोक' एवं 'बफाती चचा' नाम के तीन नाटकों का निर्माण किया है। अंतिम नाटक 'बफाती चचा' में हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या है। पं० वेचन शर्मा 'उग्र' ने 'महात्मा ईसा' को अभिनय की दृष्टि से लिखा है और इसमें सभी वर्ग के पात्र हैं, जिसका चरित्र-चित्रण सुन्दर हुआ है। इसके अतिरिक्त 'डिक्टेटर' और 'चार वेचारे' भी हैं। उपन्यास सम्राट स्व० प्रेमचन्द ने दो मौलिक नाटक 'कर्बला' और 'संग्राम' का प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त, उन्होंने गाल्सवर्दी के कई नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए--न्याय, हड़ताल एवं चाँदी की डिबिया। अश्क जी ने 'जय-पराजय' एवं 'स्वर्ग की झलक' नाम के दो नाटकों की रचना की, जिसमें प्रथम ऐतिहासिक एवं द्वितीय सामाजिक है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने एकांकी नाटक लिखकर पहाड़ खड़ा कर दिया है। सुदर्शन जी ने कई सुन्दर नाटक लिखे हैं। जिनमें 'अंजना', 'भाग्य चक्र', 'सिकन्दर' और 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' है। इनमें अंतिम प्रहसन है जिसकी ख्याति अधिक हुई है। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने 'अशोक' और 'चन्द्रगुप्त' लिखे हैं, जिसमें प्रथम अधिक सफल है। श्री चतुरसेन शास्त्री ने 'अमर राठौर', 'उत्सर्ग' और 'अजित सिंह' नाम के तीन ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं, जिसकी भाषा ओजस्विनी है। श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' ने 'प्रतिज्ञा-प्रताप' नामक नाटक का सृजन किया

बड़ी धूम रही। उन्होंने अपने नाटकों में भाषा की बेढ़ब खिचड़ी पकाई। परन्तु उनके नाटकों में ओज था और उसके गाने गजल और थियेटर के तर्ज के होते थे। प० राधेश्याम कथावाचक कृत 'वीर अभिमन्यु', 'मशरिकी हूर', 'रुक्मणी - मंगल', 'ऊषा-अनिरुद्ध', द्रौपदी- स्वयंवर', 'कृष्णावतार', 'परम भक्त प्रह्लाद' 'श्रवण कुमार', 'परिवर्तन' आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके नाटकों में 'वीर अभिमन्यु' की अधिक ख्याति हुई है। विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल' ने 'बुद्ध-चरित्र' नाम का सुन्दर नाटक लिखा, जो शान्त रस का अच्छा नाटक हुआ है। उसकी सराहना करते हुए डा० श्याम सुन्दर दास ने अपनी पुस्तक' रूपक-रहस्य' में लिखा है- 'यह नाटक भाषा, भाव, रस, वस्तु, अभिनयशीलता तथा चरित्र चित्र केण विचार से हिन्दी में अद्वितीय है।' इन नाटकों के संबंध में कुछ लोगों का कहना है कि ये जो नाटक रंगमंच के लिए लिखे गए, वे साहित्य का गौरव नहीं बढ़ा सके बल्कि वे सब सिर्फ मनोरंजन के साधन-स्वरूप रह गए। लेकिन हम तो कहेंगे कि जिस तरह उपन्यास के पाठक बनाने में चन्द्रकान्ता सन्तति आदि उपन्यासों का स्थान है, उसी प्रकार इन नाटकों का भी महत्व है।

इस युग के नाटकों में कोई खास विशेषता नहीं है, क्योंकि यह प्रधानता अनुवाद का युग रहा। हां, भाषा की दृष्टि से इस युग के नाटकों की भाषा साहित्यिक एवं सुन्दर रही।

इस समय तक विविधभाषाओं के नाटकों का अनुवाद हुआ भी और लोगों की दृष्टि मौलिक नाटकों के प्रणयन की ओर भी गई।

इस युग तक धार्मिक विषयों के नाटकों का बाहुल्य रहा, कनिले प्रसाद के आगमन से विषय में भी परिवर्त्तन हुआ। इस प्रकार धीरे-धीरे समाज की रुचि धार्मिक विषयों से हटकर सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों की ओर गई और लोगों ने नाटकों में यथार्थवाद की तस्वीर आंकना आरंभ कर दिया। ठीक ऐसे ही समय में सन् १९२० के पश्चात् प्रसाद जी हिन्दी-नाट्य-साहित्य के प्राँगण में ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सांस्कृतिक नाटक लेकर अवतीर्ण हुए। उन्होंने इस प्रकार के नाटकों का सृजन कर हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रान्ति की। इनके नाटकों पर अंग्रेजी, बंगला और संस्कृत तीनों भाषाओं के नाटकों का प्रभाव पड़ा जो नाटक की घटनाओं में एक लड़ी की तरह गूँथ दिए गए हैं। इन पर पाश्चात्य एवं बंगला की छाप अवश्य पड़ी है, परन्तु इनके नाटकों में अपना व्यक्तित्व है और है अपना दृष्टिकोण। वस्तुतः इन्होंने नाटकीय क्षेत्र में प्राचीनता और नवीनता के बीच एक मध्यम कड़ी स्थापित की है।

इस युग के मौलिक नाटककारों में श्री हरि कृष्ण प्रेमी, पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र, पं० उदय शंकर भट्ट, पं० गोविन्द वल्लभ पंत सेठ गोविन्द दास आदि हैं। श्री हरिकृष्ण प्रेमी ने अपने नाटकों के लिए विषय का संपादन मुस्लिम-काल से लेकर किया। प्रेमीजी के लिखित नाटकों में 'रक्षाबंधन', 'आहुति', 'शिवसाधना' आदि उल्लेखनीय हैं। प्रेमीजी के नाटकों में 'रक्षा-बंधनसर्वश्रेष्ठ है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने मुक्ति का• रहस्य, सिन्दूर की होली, 'राक्षस का मन्दिर', 'आधीरात', 'अशोक', 'सन्यासी'

है। कवि सुमित्रानन्दन पंत ने 'ज्योत्स्ना' की रचना की है, जिसमें नाटकीय तत्वों का पूर्णतः अभाव है। श्री कैलाश भट्ट नागर का 'भीष्म प्रतिज्ञा' भी अच्छा बन पड़ा है। श्री सत्येन्द्र ने भी 'मुक्ति यज्ञ' नामक एक नाटक का प्रणयन किया है, जिसमें वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने फ्रांसीसी नाटककार मोलियर के नाटकों का छाया मात्र अनुवाद कर उनको हिन्दुस्तानी का रूप दिया, जो प्रहसन के रूप में लिखे गए हैं। इनके निम्नलिखित नाटक हैं—मरदानी औरत, गड़बड़ झाला, नोकझोंक, दुमदार आदमी, उलट-फेर आदि।

कुछ और अनूदित नाटक—श्री सत्य जीवन वर्मा द्वारा भास के 'स्वप्नवासवदत्ता', व्रज जीवन दास द्वारा 'पंचरात्र', 'मध्यम व्यायोग', 'प्रतिज्ञा-यौगंधरायण', श्री बलदेव शास्त्री द्वारा 'प्रतिमा' और वागीश्वर विद्यालंकार द्वारा कुन्दमाला के हिन्दी में अनुवाद हुए। इतना ही नहीं, श्री भोला नाथ शर्मा एम० ए० ने गेटे के 'फाउस्ट' का सुन्दर अनुवाद किया है।

वर्त्तमान नाटकों को देखते हुए लिखना पड़ता है कि नाटकों में दोष हैं, जिन्हें दूर करना अनिवार्य है। नाटकों की रचना रंगमंच की दृष्टि से नहीं होती। उनमें दृश्य लम्बे रहते हैं और साथ-साथ कौतूहल-वृद्धि का गुण विद्यमान नहीं रहता। इतना ही नहीं, नाटक की समाप्ति किस प्रकार होनी चाहिए, इस कला से हमारे बहुत से नाटककार अनभिज्ञ हैं। वर्त्तमान नाटकों की भाषा पात्रानुकूल नहीं है और साथ-साथ उनमें लम्बे-लम्बे कथोपकथन, गायन तथा स्वगत-भाषण होते हैं, जिससे नाटक की

रोचकता जाती रहती है। हमारे नाटककार रङ्गमंच निर्देश (Stage Direction) भी पुस्तकों में नहीं देते जिससे अभिनय करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वस्तुतः इन्हीं सब कठिनाइयों के कारण हम हिन्दी वालों का अपना रंगमंच नहीं हो पाया है। यह हिन्दी नाटकों के विकास का एक सबसे बड़ा अवरोध है। इनसे मुक्त होने में एक युग लगेगा। बस !!



अजातशत्रु का कथानक

'अजातशत्रु' की कथा तीन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों और उनकी व्यक्तिगत विषम परिस्थितियों से संकीर्ण है। इन्हीं राज्य-परिवारों के अन्तर्विरोधों के साथ महात्मा बुद्ध के चरित्र एवं प्रभाव और उनके पक्ष-विपक्ष के लिए उनका संबल लेने का चित्रांकन भी गौणरूप में हो गया है। ये तीनों राज्य हैं मगध, कोशल और कौशाम्बी मगध और कोशल में तो कार्य-कारण संबंध है परंतु कोशाम्बी का एक स्वतंत्र अस्तित्व है। इन तीनों में मगध प्रधान है।

मगध का सम्राट बिम्बसार है। उसने अपना विवाह वृजी के लिच्छिवी राजकुमारी छलना और कोशल-नरेश प्रसेनजित् की बहन वासवी से किया। छलना से अजातशत्रु और वासवी से पद्मावती का जन्म हुआ। अजातशत्रु अपने चित्रक के लिए

मृगशावक बुलवाता है। एक दिन लुब्धक मृगशावक नहीं लाता है क्योंकि जब उसने मृगशावक को पकड़ा तब उसकी माता ने ऐसी करुणा भरी दृष्टि से उसकी ओर देखा कि उसे छोड़ देते ही बना। इस पर अजातशत्रु क्रोध में आ जाता है, वह लुब्धक पर हाथ छोड़ना ही चाहता है कि एकाएक पद्मावती कोड़ा पकड़ लेती है लेकिन उद्दंड उसकी 'बढ़ाबढ़ी सहन नहीं कर सकता'। पद्मावती करुणा की सीख देती है, पर अजात इन सभी बातों को सुनना नहीं चाहता। इसी बीच राजमाता छलना आती है और कह उठती है 'पद्मावती! यह तुम्हारा अविचार है। कुणीक का हृदय छोटी-छोटी बातों में तोड़ देना, उसे डरा देना, उसकी मानसिक उन्नति में बाधा देना है।' लेकिन पद्मावती माँ छलना से क्षमा मांगती हुई कहती है—'मेरी समझ में तो मनुष्य होना राजा होने से अच्छा है।' यहीं से गृह-विद्रोह की आग भड़कती है।

ईर्ष्या से आलोड़ित छलना अपने पुत्र अजातशत्रु के लिए मगध का सिंहासन सुरक्षित करना चाहती है। ऐसी परिस्थिति में जर्जर बिम्बिसार ने गौतम की आज्ञानुसार अपने को तथा मगध को 'गृहविद्रोह की आग' से बचाने के लिए अपने पुत्र को समस्त अधिकार देकर स्वयं वानप्रस्थ आश्रम का अवलम्बन किया। इधर अजातशत्रु को राज्यभार ग्रहण करने को मिला और उधर बिम्बिसार को संन्यास। अजात राज्यशासन का काय परिषद् की सहायता से न्यस्त करने लगा। देवदत्त की कुमंत्रणा और माता छलना की कुशिक्षा से अजातशत्रु क्रूर एवं बर्बर भी हो

गया। राज्यभार ग्रहण करने के बाद वह और भी विपथगामी हो गया। बिम्बिसार के समय जो याचक धनधान्यादि से पुरस्कृत एवं सेवित होते थे, वे याचक अब खाली झोली लिए निराश लौट जाते हैं। याचकों का इस प्रकार लौटना बिम्बिसार को खलता है। वासवी ने पति का मान रखने के लिये अपने पीहर से मिला हुआ प्रान्त काशी की आय की मांग की क्योंकि काशी प्रांत वासवी को उसके पिता ने आंचल में दिया था'। प्रसेनजित ने मंत्री को आदेश दिया कि 'काशी की प्रजा के नाम एक पत्र लिखो कि वह अजातशत्रु को राजकर न देकर वासवी को अपना कर प्रदान करे, क्योंकि काशी का प्रान्त वासवी को मिला है, सपत्नी पुत्र का उस पर कोई अधिकार नहीं है।'

काशी की प्रजा कर देना बन्द कर देती है। उन लोगों ने कहना आरंभ कर दिया—'हमलोग अत्याचारी राजा को कर न देंगे जो अधर्म के बल से पिता के जीते ही सिंहासन छीन कर बैठ गया है। और, जो पीड़ित प्रजा की रक्षा भी नहीं कर सकता, उनके दुःखों को नहीं सुनता।' पर मगध काशी ऐसे सुरम्य और धनी प्रदेश को छोड़ देने के लिए प्रस्तुत नहीं है। इधर मगध युद्ध की तैयारियां करता है और ठीक इसी समय विरुद्धक अपने पिता से प्रतिशोध लेने के लिए अजातशत्रु का साथ देता है क्यों कि विरुद्धक भी अजातशत्रु के समान राज्य का बागडोर चाहता था लेकिन प्रेसनजित से वह अनाहृत और तिरस्कृत होकर अधिकार च्युत हो जाता है। वह अपने पिता का विद्रोह तो करता ही है और काशी पहुँच कर शैलेन्द्र नामक डाकू हो जाता है।

वह अजातशत्रु का सहायक होकर कोशल के सेनापति बन्धुल को मार डालता है और कोशल पर प्रथम युद्ध में विजय प्राप्त करता है।

कौशाम्बी का राजा उदयन है। वह मगध-सम्राट बिम्बसार का जामाता है। उदयन को तीन रानियां हैं—पद्मावती, मागन्धी (श्यामा) और वासवदत्ता। मागन्धी के प्रभावशाली रूप पर कौशांबी-सम्राट उदयन अपने को लुटा देते हैं। वही मागन्धी पद्मावती को पाखंडी सिद्ध कर देने के लिए ढोंग रचती है, क्योंकि वह उदयन के द्वारा अब भुलायी जा रही है। वह वीणा में सर्प का बच्चा रख कर और उसका आरोप पद्मावती पर करवा कर उसकी ओर से उदयन का चित्त फिरवा देना चाहती है और उसे अपने ऊपर केन्द्री भूत कर लेना चाहती है। बाद में सच्ची घटना का पता चल जाता है और मागन्धी महल में आग लगा कर भाग निकलती है। आग लग जाने के कारण सभी को विश्वास हो गया कि वह जल कर खाक हो गयी, पर मागन्धी पहले से प्रेम करती थी, परन्तु वह उन्हें आकृष्ट न कर सकी। इसीलिए वह उनके विरुद्ध हो गई। अब वह उदयन का महल परित्याग कर काशी की सुप्रसिद्ध वारविलासिनी श्यामा बन जाती है और शैलेन्द्र नाम के डाकू से प्रेम करती है। यहां भी वह शैलेन्द्र के द्वारा छली जाती है और उसका बध भी हो जाता है। अन्त में गौतम के प्रताप से जीवन लाभ करती है और इसके उपरान्त वह भिक्षुनी बन जाती है। बन्धुल की स्त्री मल्लिका पति के हत्या करने और कराने वाले दोनों प्रसेनजित

तथा विरुद्धक की सहायता करती है। प्रसेनजित् कौशाम्बी की सेना के साथ मगध पर चढ़ आता है। इस बार अजात हार जाता है और बन्दी होकर कोशल पहुंचता है, जहां उसके हृदय में 'श्याम रजनी में चन्द्रमा की सुकुमार किरण-सी' प्रसेनजित् की सुन्दरी पुत्री वाजीरा ने एक आलोक पैदा कर दिया और कोशल कुमारी वाजिरा भी उस पर मुग्ध हो जाती है। अजात के वन्दी हो जाने पर वह 'घायल वाघिनी' की तरह हो जाती है। वासवी जब कहती है कि एक बार कोशल जाना पड़ेगा तब वह इसे उसकी एक चाल समझती है। अन्त में वासवी उसे छोड़ाने को कोशल जाती है और वहीं अजातशत्रु तथा वाजिरा का विवाह होता है। मल्लिका इसी अवसर पर विरुद्धक और उसकी माता के साथ आती है और दोनों को क्षमा दिलाती है। अजातशत्रु को पुत्र होता है और सब बिम्बसार के पास जाते हैं, जो सबको क्षमा कर देता है।

अजातशत्रु का ऐतिहासिक आधार

यह कटु सत्य है कि प्रसाद जी का अजातशत्रु ऐतिहासिक घटनाओं पर समाधारित है। इसमें मौर्यकाल के पूर्व की ऐतिहासिक घटनाओं का संकलन है। इसमें जितनी भी घटनाओं

का उल्लेख हुआ है उसमें बहुत कुछ जैन और बौद्ध-साहित्य तथा पुराणों पर आधारित है।

महाभारत-युद्ध के बाद इन्द्रप्रस्थ के पाण्डवों की प्रभुता कम होने लगी जिसके फलस्वरूप बहुत दिनों तक कोई सम्राट नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न जातियां अपने अपने देशों में शासन करने लगी। बुद्ध के जीवन-काल में ही उत्तर भारत में सोलह स्वतंत्र राज्यों अथवा महाजनपदों की स्थापना हो चुकी थी। बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे सोलह राष्ट्रों का उल्लेख है, प्रायः उनका वर्णन भौगोलिक क्रम के अनुसार न हो कर जातीयता के अनुसार है। उनके नाम हैं—अंग, मगध, काशी, कोशल, वृजि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरू, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्वक, अवंतिक, गाँधार और कंबोज। परन्तु इनमें से चार प्रमुख राष्ट्रों का अधिक वर्णन है—कोशल, मगध, अवन्ती और वत्स। कोशल का पुराना राष्ट्र संभवतः उस काल के सब राष्ट्रों से विशेष मर्यादा रखता था, किन्तु वह जर्जर हो रहा था। प्रसेनजित कोशल का राजा था। अवन्ती में प्रद्योत (पज्जोत) का राज्य था। मालव का राष्ट्र भी उस समय सबल था। मगध, जिसने कौरवों के बाद भारत में महान साम्राज्य स्थापित किया, शक्तिशाली हो रहा था। बिम्बसार वहीं के राजा थे।

बिम्बिसार महावीर और गौतम के समकालीन थे। इतिहास प्रसिद्ध शिशुनाक वंशीय १ बिम्बिसार अपने वंश का पाँचवा

---

१ मत्स्य और वायु पुराणों में इस शब्द का शुद्ध उच्चारण यही है — (Parjiter J. R. A. S., 1915), Page 146.

राजा था। वह पन्द्रह वर्ष की उम्र में मगध के राज्य-सिंहासन पर बैठा तथा उसने ५२ वर्ष तक सुशासन किया।२ रामशंकर त्रिपाठी के अनुसार उसका शासन-काल लगभग ५४३ से ४९१ ई० पूर्व है।३ पुराणों में बिम्बिसार के २० वर्ष तक शासन करने का उल्लेख है।४ इसी आधार पर भी० ए० स्मिथ उसका राज्य काल ५८२ से ५५४ ई० पूर्व मानते हैं।५ बिम्बिसार के शासन-काल में मगध एक शक्तिशाली, सुदृढ़ एवं उन्नत शील राज्य था। उस समय इसकी राजधानी राजगृह (राजगह) थी। उसने अङ्ग-प्रदेश पर विजय प्राप्त की तथा अपनी शक्ति एवं राज्य-विस्तार के विचार से उसने बहुत-सा विवाह किया।

बिम्बिसार की प्रमुख रानियों में, एक रानी प्रसेनजित की बहन कोशल कुमारी है जिसे विवाह के अवसर पर स्नानागार के व्यय के लिए काशी ग्राम मिला था।६ दूसरी रानी वैशाली के लिच्छवी नायक चेटक की कन्या ७ और तीसरी मद्र (मध्य पंजाब)

---

२ महावंश, २–२९–३०।

३ History of Ancient India—R. S Tripathy. Page 94.

४ अष्ट विंशति वर्षाणि विम्बिसारो भविष्यति—Dynasties of the Kali Age—Pargiter, Page 21.

५ The Early History of India—V. A. Smith, Page 32,34.

६ हरितमात जातक और वद्धकि शूकर जातक में केवल 'काशी ग्राम' है लेकिन Dictionary of Pali Proper Names (Page 286) में 'A village in Kasi, for her bath money' है।

७ निरयावली सूत्र—Jacobi—Jama Sutras S B. E. XXii ; Introd. P. Xiii

की कुमारी खेमा ८ थीं। इसके अतिरिक्त, बिम्बिसार का संबंध पद्मावती और अम्बपाली जैसी वारविलासिनियों से भी था। अमितायुध्यान सूत्र के एक स्थल पर वर्णन है कि वैदेही वासवी बिम्बिसार की स्त्री थी जिसने इसकी बड़ी सेवा की और कारागार में भी सर्वदा भोजन पहुँचाती रही। वास्तव में अजातशत्रु की माता कौन है ? इस संबंध में विद्वानों के बीच प्रवाद है ९। लेकिन बहुत-से विद्वानों के कथन १० एवं जैन ग्रन्थों के अनुसार अजातशत्रु वैशाली की राजकुमारी छलना का ही पुत्र था। दीर्घनिकाय में अजातशत्रु की माता वैदेही बताई गई है ११। आवश्यक सूत्र में यह इंगित किया गया है कि रानी छलना ने ही अपने पति बिम्बिसार की बड़ी सेवा की थी। इससे पता चलता कि वैदेही वासवी ही छलना है। विदेह में ही वैसाली स्थित है। यही कारण है लोग उसे वैदेही कहते थे। तिब्बत के 'दुलवा' (Dulva) में यह लिखा हुआ है कि अजातशत्रु की माता का नाम वासवी

८ Lectures on Ancient History of India. page 73-4

९ Political History of Ancient India—H. C. Roy Chowohdri, Page 137-8

१० (क) Lectures on Ancient History of India, Page 77

(ख) The Early History of India (4 th. Ed)—V. A. Smith, Page 33

(ग) The Glories of Magadha—Samaddar. J. N. (2 ndEd). Page 18

११ मागधो अजातसत्तु वेदेहि पुत्तो भगवतो पदे सिरस वन्दते।

था १२ और यह वासवी वैशाली के सिंह की पुत्री थी १३। लेकिन बौद्ध-ग्रन्थों में यह स्पष्ट संकेत है कि कोशलकुमारी ही अंजातशत्रु की माता थी १४। यथार्थ में यह एक विवादास्पद विषय है जिसके निष्कर्ष पर पहुँचना दुर्वार है। खैर, जो भी हो, बिम्बिसार ने अनेक राजाओं की कन्याओं से विवाह कर अपने राज्य की सीमा बढ़ा ली। फिर भी हम इन तथ्यों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अजातशत्रु की माता छलना का एक और दूसरा नाम वासवी भी था। इस स्थल पर नाटककार प्रसाद ने स्वतंत्रता से काम लिया है। उन्होंने कोशल-कुमारी को वासवी नाम से अलंकृत किया है और उसे पतिव्रता नारी के रूप में अंकित किया है परन्तु उन्होने छलना को' वर्वर लिच्छवी रक्त' कहा है और वही अजातशत्रु की मां ठहरायी गई है। महाराज स्वंय बौद्धधर्म के अनुयायी १५ तो थे ही परन्तु अन्य धर्मों के प्रति भी उनका उदार भाव था। इतना ही नहीं, उनके संबंध में 'उत्तराध्ययन सूत्र' प्रभृति जैन-लेखों में भी लिखा हुआ है कि वे महावीर और उनके धर्म के भी परम प्रेमी थे १६।

अजातशत्रु की क्रूरता के संबध में जन-प्रवाद है और इस विषय को लेकर विद्वानों में भी मतभेद है। विनय, दीर्घनीकाय

---

१२ (क) The Early History of India—V. A. Smith (4th Ed.) Page 33।
(ख) Dictionary of Pali Proper Names—vol I. Page 34।

१३ Rockhill—Life of Budha. 63 F.

१४ थुस्साजातक। मूषक जातक। धम्मपद अट्ठकथा।

१५ Dictionary of Pali Proper Names—Vol I! Page 285।

१६ History of Ancient India—R. S. Tripathy, Page 15

तथा महावंश के अनुसार अजातशत्रु पितृहंता है। इस तथ्य की प्रमाणिकता हरितमात और वद्धशूकर जातकों से भी सिद्ध होती है। बिम्बिसार पर गौतमबुद्ध का अधिक प्रभाव था और देवदत्त बुद्ध का प्रतिद्वन्द्वी था। देवदत्तने अपनी ऋद्धि दिखाकर उद्धत अजातशत्रु को अपने हाथ का खिलौना बना लिया। एक ओर उसने सम्राट बिम्बिसार को मारने के लिए अजातशत्रु को प्रेरित किया और दूसरी ओर अपना एक अलग संघ स्थापित कर महात्मा बुद्ध को मार डालने की चेष्टा करने लगा पर सफलता उसके हाथ न लगी। उसी के द्वारा प्रेरित होने पर अजातशत्रु अपने पिता का वध करने चला था पर उसने बिम्बिसार को अपने पक्ष में सिंहासन त्याग करते देखकर कारागार में रख छोड़ा १७। वहाँ उसने उन्हें निराहार रखकर मृत्यु की अवस्था तक पहुँचा दिया। और जब उसे पुत्र हुआ तब पुत्रोत्पत्ति के आनन्द ने उसे 'पैतृक-स्नेह' का बोध कराया। उस समय वह स्वयं पिता को मुक्त करने के लिए कारागार की ओर गया किन्तु जबतक बिम्बिसार की अन्तिम साँस उसके लिए आ चुकी थी १८। इस प्रकार अजातशत्रु पर पितृहंता का कलंक मढ़ा जाता है परन्तु इस तथ्य पर कई विद्वानों ने संदेह प्रकट किया है। इस घटना की अतिशयता पर वी० ए० स्मिथ अपना विश्वास नहीं रखते १९।

---

१७. बुद्धघोष ने बिम्बिसार का बहुत दिन तक अधिकार च्युत होकर बन्दी की अवस्था में रहना लिखा है।

१८. दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त की टिप्पणी, अर्थकथा, पृष्ठ १६ (महाबोधि सभा, सारनाथ द्वारा प्रकाशित), सन् १९३६।

१९. The Early History of India, Page 33

लेकिन रिजेडे विड्स, और गेजर आदि अन्य विद्वान इस पर अपनी आस्था प्रकट करते हैं। जैन ग्रन्थकारों ने भी इस घटना की सार्थकता को स्वीकार किया है२० । विम्बिसार की मृत्यु के अनन्तर कोशल देवी भी पति के वियोग को न सह सकने के कारण अपना जीवन खो बैठी।

कोशल-नरेश प्रसेनजित ने राजकुमारी कोशला (वासवी) को दहेज में काशी का प्रान्त दिया था। इसी काशी प्रान्त के लिए मगध के राजकुमार अजातशत्रु और प्रसेनजित में लड़ाई हुई। इस युद्ध का कारण था काशी प्रान्त का आय-कर। इससे एक लक्ष की आय होती थी जिससे अजातशत्रु वंचित हो गया। इस बात को लेकर दोनों में युद्ध हुआ था। पर यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि क्या यह युद्ध वासवी और विम्बिसार के जीवन-काल में ही हुआ था ? तो प्रसादजी के नाटक से मालूम होता है कि यह युद्ध उन्हीं के जीवन काल में हुआ था। लेकिन 'हरितमात' 'वर्द्धकिशूकर' आदि जातक कथाओं के आधार पर यह कहा जाता है कि यह लड़ाई विम्बसार की मृत्यु के बाद हुई है। यहाँ तक कि उस समय वासवी का भी देहावसान हो चुका था। अतः इस स्थल पर यह स्पष्ट होता है कि नाटककार प्रसाद ने कथा-संगठन में कल्पना का आश्रय ग्रहण किया है। 'तक्षशूकर' में अजातशत्रु के कई दिनों

---

20. Political History of India-Hemchandra Roy chowdhari (1932), Page 139,

21. (i) Lectures on Ancient History of India (1919)-D.R. Bhandarkar, Page 76-71
 (ii) Jatak vol, ii, Page 237 403 & vol IV, Page 342

तक बन्दी रहने का उल्लेख है और प्रसेनजित् के द्वारा उसे बहुत कष्ट मिला था। लेकिन इसके अनन्तर 'फिर ऐसा न करना' कह कर छोड़ दिया। फिर भी निकट-संबंधी जानकर समझौता होना अवश्यम्भावी था, इसीलिए प्रसेनजित ने मैत्री चिरस्थायी रखने के लिए अपनी दुहिता वाजिराकुमारी का व्याह अजातशत्रु से कर पुनः काशी प्रान्त और उसकी संपूर्ण आय दे दी २१। इसके अतिरिक्त, आजातशत्रु ने अपने राज्य-विस्तार के लिए वैशाली को जीत कर तिरहुत को भी मिला लिया। इतना ही नहीं, उसने संपूर्ण वैशाली और मल्लों को भी अपने अधिकार में कर लिया २२।

कोशल-नरेश प्रसेनजित् बिम्बसार तथा महात्मा बुद्ध का घनिष्ट मित्र एवं समकालीन था २३। इनके जीवन-संबंधी कहानियों का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में भी है। प्रसेनजित् के अधिकार में शाक्यदेश भी था २४। शाक्यों से विवाह संबंध स्थापित करने की इच्छा से उसने उनसे एक राजकुमारी मांगी। कोशल-नरेश को अप्रसन्न न रखने के लिए उन लोगों ने षड्यंत्र करके महानाम की दासी नागमुण्डा से उत्पन्न महानाम की पुत्री, वासभखत्तिया से उनका विवाह कर दिया। प्रसेनजित ने उसका पाणि ग्रहण कर उसे अग्रमहिषि के पद पर अभिषिक्त किया।

---

22 Lectures on the Ancient History of India (1919)—By Bhandarkar, D.R., Page 78-91

२३ मज्झिमनिकाय (Paly Text Saciety) Vol II, P. III.

२४ भद्दसाल जातक (IV, Page 144).

कालान्तर में इसी महादेवी २५ को एक पुत्र विडुडभ (विरुद्धक) हुआ जो प्रसेनजित् के बाद वहां का सम्राट् बना। जब विरुद्धक सोलह वर्ष का हो गया तब उसकी इच्छा हुई कि वह नानिहाल जाय। इसके लिए उसने अपने पिता से आज्ञा मांगी। अंत: में आज्ञा पाकर वह नानिहाल चला। जब यह बात शाक्यों को मालूम हुई कि वह आ रहा है, तब उन सबों ने सोलह वर्ष से कम अवस्थावालों शाक्य कुमारों को कपिलवस्तु से हटा दिया क्यों कि उनलोगों की इच्छा थी कि कोई शाक्यकुमार दासी के दौहित्र्यको प्रणाम न करे। वहाँ उसे ही सबों को प्रणाम करना पड़ा, उसे उससे छोटा कोई भी दीख न पड़ा तब उसकी उत्सुकता बढ़ी और पूछ बैठा कि यहाँ उससे कोई छोटा नहीं हैं। तब शाक्यों ने कहा कि उससे छोटे जो हैं वे गांव को चले गए हैं। वहाँ उसकी मान-मर्यादा खूब हुई पर वहाँ कई दिनों तक रहकर वह लौट गया। संस्थागार के जिस आसन पर बैठा था, उसे एक वृद्धा दासी अप्रसन्न होकर दूध मिश्रित जल से धो रही थी और वह रूढ़ भाव से बोली—'वासभखत्तिया दासी का पुत्र इस आसन पर बैठा था,। इसी बीच एक सिपाही भूल से अपना अस्त्र लेने को आया और उसने बुढ़िया की इस बात को सुन लिया। अंत में उसने इस संबंध में पूरी जानकारी प्राप्त कर ली और आकर अपने सैनिकों से कह सुनाया कि वासभखत्तिया महानाम की दासी पुत्री है। जब कुमार ने शाक्यों की दुर्मति को जाना तब वह बड़ा कुपित हुआ और प्रण किया कि 'ये लोग मेरे आसन के पास की भूमि को भले ही दूध मिश्रित जल

---

२५ अंगुत्तर निकाय (P, T. S.) Vol III, Page 57

से धोये' मैं राज्य पाने पर उस स्थान को उनके रक्त से धोऊँगा और वस्तुतः बड़ी क्रूरता एवं निर्दयता से उनका सर्वनाश किया२६। सामन्तों द्वारा प्रसेनजित को अपनी पत्नी के कुशील होने का पता चला। इस पर उसने क्रुद्ध होकर अपनी पत्नी और पुत्र को अपदस्त कर दिया लेकिन महात्मा बुद्ध की नीतिपूर्ण आज्ञा से दोनों को निज पद प्राप्त हुए। इसके अनन्तर भगवान बुद्ध ने राजा को कष्टहारिणी कथा कह सुनायी,यह कष्टहारिक जातक में है। इसे सुनकर राजा को आत्म-संतोष हुआ।

विरुद्धक की माता का नाम जातक में वासभखत्तिया मिलता है परन्तु प्रसादजी ने उसी का कल्पित नाम शक्तिमती और महामाया रक्खा है। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार शक्तिमती और विरुद्धक अपदस्थ होने पर भी राजमहल से बाहर नहीं आये थे २७ पर इस नाटक में तो शक्तिमती अपने पुत्र विरुद्धक, मल्लिका और कारायण को प्रसेनजित् के विरुद्ध उत्तेजित करती है। इतना ही नहीं, वह तो राजमहल से दूर होकर जेतवन के निकट कारायण से मिलती और षडयन्त्र की बातें रचती है। विरुद्धक अपदस्थ

---

२६ धम्मपद अट्ठकथा (P.T.S., Vol I &, Page 339, Jatak Vol I, Page 133 and Vol IV. Page 144,

27 It is said that when Pasendi discovered Vasadhkhattiya's servila origin, he degraded both her and her son from their rank, and that they never went out side the palace. When the Budha heard of this, he visited the king, preached to him the katthahari Jataka and had the green restoed to honour. Dictionary of pali proper names. page 857.

किये जाने के अनन्तर डाकू बन जाता है और उसके डाकू होने की कल्पना प्रसादजी ने शायद बौद्ध-ग्रन्थों में वर्णित अंगुलिमाल डाकू के आधार पर की है। यह डाकू महात्मा बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर एक बौद्ध-भिक्षु बन गया था। यहां पर बतला देना आवश्यक हो जाता है कि भगवान बुद्ध की ही कृपा से माता-पुत्र दोनों अपने-अपने पद पर प्रतिष्ठित हुए थे २८ परन्तु प्रसादजी ने इसका समस्त सेहरा मल्लिका देवी के सर में बांध रक्खा है।

प्रसेनजित्, बन्धुल मल्ल और महालिच्छवी तीनों एक साथ तक्षशिला में पढ़ते थे। वह कुसीनारा के मल्ल सामन्त का राजकुमार था। मल्ल कुमारों ने उसे उसकी शस्त्र परीक्षा के अवसर पर धोखा दिया। इससे उसका हृदय क्षुब्ध हो उठा और वह श्री वास्तवी में आकर रहने लगा। प्रसेनजित् ने उसे अपना सेनापति बना लिया। बन्धुल की स्त्री मल्लिका थी। भगवान बुद्ध की परम भक्त थी और उनके आशीर्वाद से वह गर्भिणी हुई। उसे वैशाली की पुष्करिणी में स्नान करने की दोहद हुई। परन्तु प्रसादजी ने 'वैशाली' की जगह पर 'पावा' लिखा है, पता नहीं चलता है कि उन्होंने इस स्थल को पावा किस आधार पर लिखा है। इस पुष्करिणी का संरक्षण बड़ी ही कठोरता से होता था क्योंकि इसके जल से वहां के सम्राट अभिषिक्त होते थे। मल्लिका की इच्छा की पूर्त्ति करने के निमित्त वह स्वयं पत्नी को रथ पर चढ़ा कर यहीं ले आया और मल्लिका ने इच्छा भर स्नान और जलपान

---

२८ भद्दसालजातक और अट्ठकथा के आधार पर।

किया। दोनों लौटने लगे। इसकी सूचना पा लिच्छवी राज-कुमारों ने बन्धुल का पीछा करने लगे। इस दृश्य को देख कर मल्लिका का हृदय चंचल हो उठा और अपने पति को इस बात से अवगत कराया। बन्धुल ने सभी रथों को एक सीध में देख अपनी अमित शक्ति वाला वाण चलाया जिससे पांच सौ रथों का अग्रभाग विद्ध हो गया और इससे सभी की कमरबन्द विद्ध हो गयी। अंत में यह अमित शक्ति वाला वाण पृथ्वी में घुस गया। इस तथ्य से वे सब परिचित नही थे। अतः जैसे ही आगे बढ़ने की चेष्टा करते वैसे ही प्राण त्याग कर जमीन पर गिर पड़ते। इस प्रकार सभी की मृत्यु हुई।२९ इस संबंध में हमें यह कहना है कि प्रसादजी ने लिच्छवी" के स्थान पर 'मल्ल' और 'मंगलपुष्करिणी' के स्थान पर 'अमृतसर" कर दिया है।

वंधुल दुर्जेय, वीर और तेजस्वी था। बन्धुल के पराक्रम से प्रसेनजित् भयभीत हो रहे थे क्योंकि कुछ दरवारियों ने उनका कान भरना शुरू कर दिया था कि वंधुल कोशल का सम्राट बनना चाहता है। प्रसेनजित् को इस बात पर विश्वास हो गया। अतः उन्होंने वंधुल और उसके पुत्रों (मल्लिका को १६ बार यमज पुत्र हुए) का उपद्रव-दमन के लिए भेजा। इसके साथ-साथ गुप्त रूप से प्रसेनजित् ने वंधुल और उनके पुत्रों की हत्या करने की भी आज्ञा दे रक्खी थी। वंधुल विद्रोह-दमन-कर जब श्री वास्ती लौट रहा था तब प्रसेनजित के सिपाहियों ने उनलोगों के सरों को काट

---

२९. Dictionary of pali proper Names, Vol II. page 266-7

डाना। इस हृदय-विदारक समाचार का पत्र उसे तब मिला जब वह पांच सौ बौद्ध भिक्षुओं के साथ भगवान बुद्ध ३० के दो प्रधान शिष्यों को भोजन करा रही थी। उस समाचार को पढ़ कर वह अपने काम में लग गई। अंत में उनलोगों को यह बात मालूम हुई और मल्लिका के संतोष एवं धैर्य की सराहना की। उसके मन में राजा के प्रति द्वेष की भावना न थी। प्रसेनजित को यह बात मालूम हुई तो उसे बड़ा भारी पछतावा रहा। उसने मल्लिका से क्षमा की भीख मांगी और स्वर्गीय बन्धुल के भानजे दीर्घकारायण को अपना सेनापति बनाया। वह बन्धुल की हत्या को नहीं भूल पाया था तथा अवसर पाकर प्रसेनजित के विरुद्ध दीर्घ, कारायण फौज सहित श्रीवस्ती चला आया और विरुद्धक को उसने राजा घोषित किया! बेवस होकर वह अजातशत्रु से सहायता मांगने को चला पर उस समय कोटद्वार के निकट पहुंचा जब वह बन्द हो चुका था, वह थक गया था और उसने एक विश्रामालय में जाकर अपनी पनाह ली। वहीं प्रसेनजित् के प्राण पंखेरू उड़ गए। ३१

उदयन कौशांबी का राजा था। वत्सराज उदयन और उसके अधिकारियों की कथा अनेक काव्य-ग्रन्थों में मिलती है। इस प्रकार की साहित्यिक कृतियों में कथा सरित्सागर (सोमदेव); स्वप्न-वासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगंधरायण (भास); रत्नावली और

---

30. Papanca Sundani. Majjhima Commentary Vol II. page 753 (Aluvihara Series. Colombo).

३१. (i) History of Ancient India By R. S. Tripathi. page 92
(ii) धम्मपद अट्ठकथा, Vol I page 288. और 349-56.
(iii) Jatak Vol IV. page 148

प्रियदर्शिका (श्री हर्ष) आदि है। इन्हीं काव्य-ग्रन्थों के आधार पर इतिहासकारों ने इसके संबंध में प्रकाश डाला है। उदयन तत्कालीन भारत का प्रमुख शासक था और उसने अवंती, मगध और अंग से वैवाहिक-संबंध स्थापित किया था ३२। कथासरित्सागर में उदयन की दो रानियों (वासवदत्ता और पद्मावती) का ही नाम मिलता है किन्तु बौद्धों के ग्रन्थों में उसकी तीसरी रानी मागन्धी का नाम भी आया है। वासवदत्ता और पद्मावती का उल्लेख स्वप्न वासवदत्ता में भी है। वासवदत्ता उदयन की बड़ी रानी थी जो अवंती के चण्ड महासेन की कन्या थी। इसी चंड का नाम प्रद्योत भी था। उदयन की दूसरी रानी पद्मावती के पिता के नाम में बड़ा मतभेद है। यह तो निर्विवाद है कि वह मगधराज की कन्या थी क्योंकि कथासरित्सागर में भी यही लिखा है। परन्तु बौद्धों ने इसका नाम श्यामावती लिखा है जिस पर मागन्धी के द्वारा उत्तेजित किये जाने पर उदयन बहुत नाराज हो गए थे ३३। श्यामावती के ऊपर बौद्ध-धर्म का उपदेश सुनने के कारण वे बहुत क्रुद्ध हुए। यहाँ तक कि उसे जला डालनेका भी उपक्रम हुआ था लेकिन भास कृत 'वासवदत्ता' में इसके भाई का नाम दर्शक लिखा है। पुराणों में भी अजातशत्रु के बाद दर्शक, हर्षक, दर्शक और वंशक—इन कई नामों से अभिहित एक राजा का उल्लेख है।

---

32 History of Ancient India--By R. S. Tripathi, Page 90

३३ बुद्धघोष रचित धम्मपद की टीका में मागन्धीया और श्यामावती नाम की दो पत्नियों का उल्लेख मिलता है। प्रसाद जी ने श्यामावती को पद्मावती मान लिया है।

किन्तु महावंश आदि बौद्ध-ग्रन्थों में केवल अजात के पुत्र उदयाश्व का दो नाम उदासीन, उदयभद्रक के रूपान्तर में मिलता है। इसीलिए रसोदजी ने पद्मावती को अजातशत्रु की बहन माना है ३४ और भास ने संभवतः (कुणीक के स्थान में) अजात के दूसरे नाम, दर्शक, का ही उल्लेख किया है।

'अट्ठकथा' और 'दिव्यवादन' नामक बौद्ध-ग्रन्थों में मागन्धीया की कथा विस्तारपूर्वक है। वह ब्राह्मण कन्या थी। उसके पिता भगवान बुद्ध से विवाह करना चाहते थे पर उन्होंने उससे कहा 'मुझे तुम्हारी कन्या की कोई आवश्यकता नहीं है। यह शरीर मूत्र-विष्ठा रूप है'। इस प्रकार बुद्ध ने उसके रूप को तिरस्कृत आँखों से देखा। मागन्धी ने बुद्ध से बदला लेने की प्रतिज्ञा कर ली ३५। उसके माता-पिता मर गए। इसके अनन्तर उसने अपना विवाह उदयन से कर लिया। पद्मावती बुद्ध के उपदेशों से पूर्णतः प्रभावित थी। वह बुद्ध और पद्मावती को अपमानित करने की फिक्र में लगी थी। वह इस कार्य को न्यस्त करने के लिए अधीर थी। वह विविध प्रकार से उदयन के हृदय में पद्मावती के प्रति अविश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा मे लीन थी। एक दिन उसने अपने चाचा से एक सांप मंगवा कर वाद्ययंत्र के छिद्र में रख उसे फूल के गुच्छे से बन्द कर दिया।

---

34. Lectures on the Ancient History of India (1919) By Bhandarkar D.R second Lectures.

३५ मुझे कुल, प्रतिष्ठा, धन और रूप सभी हैं। इनके अनुरूप पति पाने पर मैं सोचूँगी कि इस श्रमण गौतम का क्या किया जाय। (अट्ठकथा)

जब सम्राट उदयन मागन्धी के महल में गये और वीणा को लिए हुए सो गये तब मागन्धी ने किसी तरह फूलों का गुच्छा खींच लिया। सांप फुंफकारता हुआ निकला। मागन्धी सांप सांप कहकर चिल्ला उठी। इससे उदयन की आँखों में खून उतर आया और उसने असित शक्ति का बाण उसपर चलाया पर वह लौट आया। इससे राजा की आँख खुलगई और उससे पद्मावती के सत्यबल का पता चल गया। मागंधी ने कई तरह के अभियोग पद्मावती पर लगाये परंतु वह निर्दोष ही ठहरी। अंत में वह अपने षड़यंत्रों को विफलता के रूप में देखकर अपने चाचा की सहायता से पद्मावती के महल में आग लगवा दी। परन्तु इसके पीछे जो यथार्थ छिपा था जब उदयन को ज्ञात हुआ तब वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ।२६ विशाख दत्त कृत एक नाटक 'अभिसारिका बञ्चितकां' का कुछ खण्ड प्राप्त हुआ है जिसके अनुसार उदयन के हृदय में यह विश्वास की भावना प्रस्फुटित की गई कि पद्मावती उसके पुत्र की हत्याकारिणी है।२७ परन्तु कुछ बौद्ध - ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जाता है कि मागन्धी ने पद्मावती (श्यामावती) के महल में आग लगवा दी और वह उसी में जल मरी।२८ परन्तु प्रसादजी ने उसे उस रूप में चित्रित नहीं किया है।

---

२६ Lectures on the Ancient History of India (1919) By Bhandarkar, D. R. second Lectures.

२७ भोजो यथा—श्री विशाख देव कृते अभिसारिका वञ्चिते वत्सराजः सम्भावित पुत्र वधायै पदमावत्यै क्रुद्धः। श्रृंगार प्रकाश।

२८ 'धम्मपद' और 'भट्टकथा'।

आनन्द और सारि पुत्र थेर बुद्ध के मुख्य शिष्यों में थे। आनन्द बुद्ध का सच्चा धर्म प्रचारक था।३६ और महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों में सारिपुत्र को सर्वश्रेष्ठ पद दिया था।४० देवदत्त में अलौकिक शक्तियां थीं और वह महात्मा बुद्ध का प्रति द्वन्द्वी था।४१ चिञ्चा की कथा का उल्लेख 'महापद्म जातक' में भी है। राजवैद्य जीवक की कहानी का विस्तार पूर्वक वर्णन 'विनय पिटक' में है। विदूषक वसंतक के कार्य्य कलापों का विस्तृत-वर्णन 'कथा सरित्सागर' में है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस नाटक के सभी पात्र इतिहास सिद्ध पात्र हैं परन्तु उनके जीवन संबंधी घटनाओं को अपनी कल्पना का आश्रय लेकर उलटा-पलटा है। इससे ऐतिहासिक सत्य की रूक्षता बच गई है। वास्तव में उन्हों ने इतिहास की बिखरी हुई सामग्री को एक सुचिन्नित एवं सुसम्पादित रूपरेखा प्रदान की है। यथार्थ तो यह है कि कथात्मक चरित्रों के विकास एवं औत्सुक्य उत्पन्न की दृष्टि से उन्होंने कल्पना और अनुमान का अवलम्बन लिया है। सुतरां प्रस्तुत नाटक के कथानक का आधार इतिहास ही है।

---

३९ Dictionary of Pali Proper Nemes vol I, page 243.

४० Dictionary of Pali Proper Names vol II, page 1108.

४१ 'विनय पिटक' और समुद्द वनिज जातक'।

नायक कौन ?

प्रसादजी का 'अजातशत्रु' एक ऐतिहासिक नाटक है और इसकी कथावस्तु इतिहास के खंडहरों से ली गयी है। प्रसादजी की नाटकीय प्रतिभा के विकास के तीन स्थल हैं और इस नाटकीय-कला का आरंभ 'विशाख' से होता है। इसमें उन्होंने नाट्य-कला के संबंध में अपने मौलिक सिद्धान्त स्थिर किए थे और यहीं से उनकी निजी कला का आरंभ होता है। 'अजातशत्रु' भी इसी समय का नाटक है। अतः हम देखते हैं कि उनकी नाट्य कला की तीन अवस्थाओं में 'अजातशत्रु' पहली अवस्था का परिचायक है। 'अजातशत्रु' प्रारंभिक रचना है और इसीलिए इसके प्रणयन में कई तत्व इस प्रकार के सिमट गए हैं जो भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। उन तत्वों में नाटक के नायक का प्रश्न जटिल है। 'नायक' के संबंध में भिन्न-भिन्न विद्वानों का भिन्न-भिन्न कथन है। कोई अजातशत्रु को नायक मानते हैं, कोई गौतम और कोई बिम्बसार को। इस प्रकार नायक के प्रश्न को लेकर विद्वानों में एक संघर्ष उपस्थित हो गया है। प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' ने इसका नायक बुद्ध को स्वीकार किया है और इसकी पुष्टि के लिए वे यह तर्क उपस्थित करते हैं-'समस्त नाटक में जिस विचारधारा का प्रवाह है, जो नाटक के उद्देश्य को निर्धारित करती है, गौतम उसका प्राकृत रूप है। उसकी करुणा की अन्त में विजय होती है, सब कोई उसके प्रभाव को स्वीकार करते हैं। नाटक का अंतिम दृश्य भी गौतम के बिना समाप्त नहीं होता। गौतम अभय हाथ उठाते हैं तभी

यवनिका-पतन होता है। हम तो यही समझते हैं कि एक रूप से नाटक की आत्मा होने के कारण और अंतिम दृश्य में केवल अभय हाथ उठाने के लिए प्रवेश करने के कारण गौतम ही 'अजातशत्रु' का नायक है, अजातशत्रु नहीं। अजातशत्रु का फल साम्य तो दूसरे पात्रों के लिए भी साधारण है, परन्तु गौतम की जैसी विजय होती है वैसी और किसी की नहीं।' १ प्रो० कृष्णानन्दन सहाय बिम्बसार को नायक मानते हैं और कहते हैं—'एकसूत्रता के विचार से बिम्बसार की स्थिति मैं ऊपर बता चुका हूँ। यदि फलाधिकारी के हिसाब से भी देखा जाय तो वह पीछे नहीं पड़ता। एक स्त्री के प्रेम और पुत्र के स्नेह से वंचित बिम्बसार झंझटों को खत्म करने के विचार से राज्य से अलग हो जाता है। यह त्याग, चाहे जिन परिस्थितियों में हो, है महान्। पर झंझटें खत्म नहीं होतीं हैं। उसके घर में तथा उसके सम्बन्धियों के यहाँ उनकी और वृद्धि होती है और चरम-सीमा पर पहुँच कर वे धीरे-धीरे समाप्त होती हैं तथा बिम्बसार को छलना की प्रेम-श्रद्धा के साथ पुत्र-स्नेह की भी प्राप्ति हो जाती है। बिम्बसार के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व भी काफी है। इस प्रकार इस नाटक में नायक का पद उसीको मिलना चाहिये।' २ पं० गुलाबराय ने भी बिम्बसार को ही नायक माना है और लिखा है कि 'नाटकार ने नाटक का नाम अजातशत्रु रख कर अजातशत्रु की मुख्यतः स्वीकार की है और उसे नायकत्व प्रदान किया है! यदि यह बाधा न होती तो नायक होने का दूसरा अधिकार

---

१ प्रसाद की नाट्यकला—पृ० सं० १०७।

२ प्रसाद के दो ऐतिहासिक नाटक—पृ० सं० ९१।

बिम्बसार को था ! यद्यपि उसका परिणाम में अंत हो जाता है तथापि उसको एक प्रकार से फलप्राप्ति होती है। उसके जीवन की शान्तिमयी साधना पुरी होती है। अजातशत्रु का हृदय-परिवर्तन हो जाता है जिन सिद्धान्तों को वह मानता था उनकी विजय होती है अन्तमें शान्ति का वातावरण उपस्थित हो जाता है। यही नाटक का प्रसादन्त होता है। मरणान्त होते हुए भी वह दुःखान्त नहींहै। यदि हम नाटक के नाम की बाधा को ओझल कर दें तो बिम्बसार इसका नायक होता है और इस अवस्था में शान्तरस की प्रधानता होती हैं। परन्तु पं० गुलाब रायजी का कथन बहुत हद तक विरोधात्मक है और इससे पाठकों के मन में सन्देह बना रहता है । जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के अनुसार प्रस्तुत नाटक का नायक अजातशत्रु ही है। इस संबंध में उन्होंने लिखा है कि लेखक ने नाटक का अजातशत्रु नाम रखकर अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया है। इतिहास का प्रधान पुरुष वही है नाटक के संपूर्ण कार्य-व्यापारों का मूल उद्गमस्थल और केन्द्र वही है और फल का उपभोक्ता भी वही है । कोशल और कौशाम्बी की स्थिति अजात के कार्यों से प्रभावित है। उसी के कारण प्रसेनजित और विरुद्धक में विरोध-भाव उठ खड़ा हुआ है तथा मगध-कोशल का संग्राम होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण संघर्ष के मूल में अजातशत्रु है। मल्लिका और बुद्धदेव तो केवल 'शान्त पापम्' करते हैं। नाटक का प्राण जो क्रिया व्यापार है वह तो उसी के व्यक्तित्व पर आश्रित है। इसके अतिरिक्त वही अपने लक्ष्य की प्राप्ति भी करता है।' २ इस प्रकार हमने भिन्न-

---

१ साहित्य—सन्देश, जनवरी-फरवरी, १९४८ ।

२ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, पृ०सं० ७१

भिन्न विद्वानों के विचारों को प्रकट कर दिया, अब हम सभी के निष्कर्ष को परखने का प्रयास करते हैं।

प्रो० शिलीमुख ने गौतम को नायक के पद पर बिठलाया है परन्तु यह स्पष्ट है कि भगवान बुद्ध का आगमन प्रस्तुत नाटक में एक प्रधान पात्र के रूप में नहीं हुआ है। गौतम के जीवन में संघर्ष नहीं है इसलिए जब संघर्ष का ही अभाव है तो वह कभी भी नायक से पद का अधिकारी नहीं है। यह सत्य है कि गौतम ने कार्य का बीज-वपन किया और फलागम की ओर पहुँचाया परन्तु उसमें अन्तर्द्वन्द्व नहीं है। नाटक में गौतम का दर्शन एक उल्का पिण्ड की भाँति हुआ है कि जब चाहा अपना दर्शन दिया और जब नहीं चाहा तब नहीं। इसके अतिरिक्त, नाटक के पात्रों पर मल्लिका का प्रभाव गौतम से अधिक है; परन्तु भिन्न-भिन्न राज्यों से सम्पर्क गौतम बुद्ध का ही है। गौतम के व्यापार में शिथिलता है, गत्यात्मकता नहीं। अगर नाटक की एक सूत्रता पर विवेचन किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि कोशल और कौशाम्बी से बिंबसार और अजातशत्रु का संबंध महात्मा बुद्ध से अधिक है। इन राज्यों में जो पारस्परिक संबंध है, वह है वैवाहिक ग्रन्थि के कारण ही। इस नाटक में जो विश्व-प्रेम एवं करुणा की जीत की व्यंजना हुई है, वह भी गौतम के कारण नहीं बल्कि अन्य पात्रों के द्वारा। इस जीत में गौतम बुद्ध परोक्ष कारण हैं। जिन राज्यों पर तीन अन्य पात्रों के व्यक्तित्व का प्रभाव है, वे हैं—बिम्बसार और वासवी मल्लिका तथा वासवदत्ता। ये तीनों का प्रभाव क्रमशः मगध, कोशल और कौशाम्बी पर है। भगवान बुद्ध तो महात्मा

ठहरे उनका प्रभाव तो पहले से ही था और इसीलिए उनकी महत्ता पहले से ही स्थापित है। यह सत्य है कि देवदत्त उनका प्रतिद्वन्द्वी है पर बुद्ध संघर्ष के परे हैं। वे एक साधु हैं, एक महात्मा हैं जिन्हें सांसारिक संघर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं। अगर उन्हीं की कहानी नाटक में प्रधान रहती तो नाटक में उनका आविर्भाव एक प्रधान-पात्र के रूप में रहता और द्वन्द्वों का संघर्ष दरसाया जाता तब उनकी विजय होती, परन्तु इस तरह की घटना नहीं है। अतः गौतम बुद्ध नायक के पद का अधिकारी नहीं।

बिम्बसार एक ऐतिहासिक एवं प्रख्यात पुरुष अवश्य हैं परन्तु वे एक निवृत्तिपरायण पात्र हैं। नाटक में उनका दर्शन भी उल्कापिण्ड की ही भाँति होता है। वे एक दार्शनिक पात्र के रूप में आये हैं। कथावस्तु का तन्तु भी उनके जीवन में आकर नहीं सिमट पाया है। बिम्बसार दुर्बल प्रवृत्ति का व्यक्ति है। तीनों राज्य की घटनाएँ अधिकांशतः अजातशत्रु से ही संबंधित है। अस्तु, बिम्बसार भी नायक के पद के लिए उपयुक्त नहीं है।

वस्तुतः प्रस्तुत नाटक का नायक 'अजातशत्रु' ही है और उसी के नाम पर इस नाटक का नामकरण हुआ है। यह सत्य है कि इस नाटक के कार्य-व्यापारों में अजातशत्रु की मुख्यता नहीं रही है जितना अन्य नाटकों में रहा करता है और न उसके व्यक्तित्व का कोई महत्व है। उसका व्यक्तित्व दूसरे पर अवलम्बित है। वह स्वतंत्र विचार और कर्तृत्व से विहीन है,

इसीलिए उसका कोई निजी चरित्र नहीं। वह देवदत्त और छलना का क्रीड़ा-कन्दुक है। वह उन दोनों पात्रों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की पूर्त्ति का एक साधनमात्र है। उसमें स्वावलम्बन का अभाव एवं परमुखापेक्षिता का आरोप महान दोष है। उसका जो व्यक्तित्व है वह दूसरों के द्वारा संचालित है। मल्लिका ने उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता का उपदेश अजातशत्रु को दिया और उसने कोशल साम्राज्य पर आक्रमण न करने की प्रतिज्ञा की परन्तु छलना और देवदत्त के व्यक्तित्व के सम्मुख घुटने टेक देता है और युद्ध करने को तैयार हो जाता है। अगर उसने वासवी का शान्त, स्निग्ध, सौम्य स्वभाव को देखा तो शीघ्र ही वह दुर्विनीत से विनीत बन, जाता है। सुतरां, यह स्पष्ट है कि उसका कोई चारित्रिक बल नहीं है बल्कि वह दूसरे पर अवलम्बित है। अजातशत्रु से तो विरुद्धक का चरित्र अधिक चारित्र्य-पूर्ण है। विरुद्धक के चरित्र में दृढ़ता एवं प्रभावोत्पादकता है। 'परन्तु नाटककार ने उसका परिचय इस ढंग से दिया है कि अजातशत्रु के न रहने पर उसके व्यक्तित्व से हमारे परिचित होने का कोई अवसर ही नहीं रह जाता और यही कारण है कि अस्थिर चित्त और अप्रधान चरित्र लेकर भी कथा को जन्म देने और उसके विकास में सहायक होनेवाला अजातशत्रु ही नाटक का नायक माना जाता है'। हाँ, पूरे नाटक में आरंभ से अंत तक अजातशत्रु विद्यमान है और उसका दर्शन प्रत्येक अंक में होता है। परन्तु उसके सम्पूर्ण कथानक में दुर्बलताएँ घर कर गई हैं। उसके चरित्र में भारतीय आचार्यों द्वारा सांकेतिक

लक्षणों का नितान्त अभाव है धनञ्जय ने नायक के निम्नलिखित गुणों को अपेक्षित माना है—

> नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
> रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा ॥
> बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
> शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥
>
> दशरूपकम्—धनञ्जय ।

परन्तु इन लक्षणों के आधार पर अजातशत्रु कभी भी भारतीय नायक के पद पर प्रतिष्ठित नहीं होता है। हाँ नाटक पर गौतम और मल्लिका के अलौकिक व्यक्तित्व का पूर्ण प्रभाव है और वह भी नाटक कार ने मल्लिका को अधिक श्रेय दिया है। अस्तु, प्रभाव की एकता की दृष्टि से नाटककार का यह पावन कर्त्तव्य था कि प्रस्तुत नाटक का नामकरण या तो मल्लिका के नाम पर करते या बुद्धदेव के नाम पर, न कि अजातशत्रु' के नाम पर। वस्तुतः उन्होंने प्रस्तुत नाटक का नामकरण अजातशत्रु के नाम पर क्यों किया है ? इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि प्रसादजी का मनो नीत नायक अजातशत्रु ही है। वह ऐतिहासिक व्यक्ति है। प्रख्यात एवं विशाल कुलसंभव है। यह ठीक है कि वह प्रेरणा और कर्त्तृत्वशून्य है परन्तु नाटककार ने नाटक का नाम उसी के नाम पर केवल इसलिए रक्खा है कि कथावस्तु का बिखरा हुआ तन्तु अजातशत्रु के कार्य में ही निबद्ध है। अतः कथा का उद्गम स्थल वही है। उसी के कार्य- व्यापारों का प्रभाव कोशल और कौशाम्बी पर है।

अजातशत्रु के देखा-देखी ही विरुद्धक अपने पिता प्रसेनजित के विरुद्ध खड़ा होता है और उसी के कारण मगध और कोशल में युद्ध होता है। अस्तु, हम जिस ओर दृष्टि निपात करते हैं उसी ओर संघर्ष के मूल अजातशत्रु को पाते हैं। महात्मा बुद्ध और मल्लिका का आगमन एक अलौकिक पात्र के रूप में होता है। उन दोनों को नाटक के संघर्ष से कोई संबंध नहीं। नाटक की क्रियाशीलता में उन का कोई हाथ नहीं, कोई सहयोग नहीं। सुतरां, नाटक के कार्य-व्यापार में जो तीव्रता है, उसके मूल में अजात-शत्रु ही दृष्टिगत होता है। इतना ही नहीं, परिणाम की दृष्टि से अजात शत्रु ही फल का स्वामी होता है। नाटक में जो भी विप्लव हुआ है, वह मगध राज्य के अधिकार के लिए। इसीलिए उसे अधिकृत करनेवाला अजातशत्रु ही अधिकारी या नेता है। भारतीय दृष्टि से केवल घटनाओं को अभीप्सित परिणाम की ओर अपने व्यक्तित्व या कार्य-कलाप से नयन करने वाला ही नायक नहीं होता। इन घटनाओं का चक्र जिसके निमित्त प्रवर्तित होता हैं अथवा जो उसके फल का भोक्ता होता है वही नायक होता है।' अब प्रश्न यह होता है कि वास्तव में इसका नायक किस कोटि के अन्तर्गत आता है ?

यों तो हमारे भारतीय आचार्यों ने नायक के चार भेद माने हैं और वे हैं—धीरोदात्त, धीर ललित, धीर प्रशान्त और धीरोद्धत। जब हम उनके नाटकों के नायक को देखते हैं तब हम पाते हैं कि उनके प्रत्येक नाटक का नायक धीरोदात्त है और इस कोटि के नायक को धनञ्जय के अनुसार, निम्नांकित गुणों से विभूषित होना चाहिये—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावान् विकत्थनः।
स्थिरो निगूढ़ाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़ व्रत ॥

अर्थात् धीरोदात्त नायक शोक क्रोधादि से अनभिभूत अन्तः करण-वाला, गम्भीर, क्षमावान, अनात्मश्लाघी, दृढ़ व्रत, धैर्य्य वान और विनय आदि से युक्त होता है।' परन्तु अजातशत्रु धीरोदात्त नायक की कोटि के अन्तर्गत नही आ सकता क्योंकि वह अपने पिता माता एवं बहिन के प्रति अशिष्ट एवं असहिष्णु है। वह देवदत्त एवं छलना के हाथ का खिलोना है. उन्हीं के संकेतों पर अपना कार्य न्यस्त करता है। उसमें चारित्र्यगत दुर्बलता है। अतः उसमें जिन गुणों का विद्यमान होना पाया जाता है, वे धीरोदात्त नायक के बिल्कुल प्रतिकूल हैं। अजातशत्रु धीर-ललित नायक भी नही क्योंकि इस कोटि के नायक में निश्चित कलासक्त, सुखी एवं मृदुल स्वभाव का वर्त्तमान होना अनिवार्य है। इस कोटि का नायक प्रायः राजा होता है जो अपने राजकार्य का भार दूसरों को सौंपकर नवीन प्रेम में लिप्त हो जाता हैं। प्रस्तुत नाटक की अन्तिम अवस्था में नवीन प्रेम का संचार देखते हैं और वह भी अजात शत्रु और कोशल कुमारी वाजिरा में। यह प्रवृत्ति नाटक के किसी अन्य पात्र में परिलक्षित नहीं होती है।

अजातशत्रु प्रेम तो करता अवश्य है परन्तु राज्य का भार दूसरे के ऊपर नहीं सौंपता है। इसके साथ साथ उसका आरंभिक जीवन क्रूर एवं उच्छृंखल रहा है, जिसके हेतु उसमें 'ललित' गुण का अभाव है। अतः यह स्पष्ट होता हैं कि अजातशत्रु

धीर ललित नायक नहीं है। धीर प्रशान्त नायक 'द्विजादिक' होता है, क्षत्रिय नहीं। अजातशत्रु क्षत्रिय है और इसके साथ-साथ वह सन्तोष को जीवन का धर्म नहीं मानता है, इसीलिये वह इस श्रेणी के अन्तर्गत भी नहीं आ सकता है। सुतरां, हम देखते हैं कि प्रस्तुत नाटक का नायक भिन्न कोटि का पात्र है। नायक का जो अन्तिम प्रकार बतलाया गया है, वह है—धीरोद्धात्त। धनञ्जय ने धीरोद्धात नायक का निम्नलिखित लक्षण बतलाया है :—

दर्प मात्सर्य भूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धत स्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥

अर्थात् दर्प, असहनशीलता, अहंकार, आत्मश्लाघा, मायावी, छलपूर्ण और चंचल होना ही धीरोद्धत नायक के गुण हैं।' ये जो गुण इस कोटि के नायक के लिये संकेत किये गये हैं, वे पूर्ण रूप में अजातशत्रु के साथ चरितार्थ हैं। अजातशत्रु अपने जीवन के पहले प्रभाव से ही दुर्विनीत क्रूर, अहंकारी, असहनशील एवं चंचल है। वह अपने विचार पर स्थिर रहने वाला व्यक्ति नहीं है। वह अपनी माता छलना और गौतम बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त का क्रीड़ा-कन्दुक है और वे दोनों अपने कार्य की सिद्धि के लिये उसे अस्त्र-सा उपयोग करते हैं। उन्हीं दोनों के संकेत पर वह अपने बाप-मां को भी बन्दी गृह में डाल देता है। अतः हम देखते हैं कि अजातशत्रु निकृष्ट कोटि का पात्र है और धीरोद्धत्त नायक ही है।

सभी दृष्टि से अजातशत्रु को नायक के मानदंड पर कसते हैं और वही नायक पद पर प्रतिष्ठित होता है। अजातशत्रु ही प्रसाद जी का मनोनीत नायक था और यह नामाकरण भी यथार्थ है। बस!



चरित्रांकन

चरित्रांकन-शैली--

नाटक में चरित्र निर्माण की कला एक साधना है, जिसमें एक सफल साधक ही सफलता प्राप्त कर सकता है। ऐसे ही साधकों में प्रसादजी भी एक हैं। उनके नाटक का महत्व सिर्फ इसलिए नहीं है कि वे सब अनेकता और मौलिकता लिए हुए हैं बल्कि उनमें चित्रित मानव जीवन की अनेक रूपता और विशदता है। नाटक में चरित्र-निर्माण-शक्ति स्वयं नाटककार की प्रतिभा पर अवलम्बित है, क्योंकि पात्रों के चरित्र-चित्रण में संयम और साधना का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। कथावस्तु के उपरान्त नाटक का जो एक प्रधान तत्व है, वह है चरित्रांकन ही। मिस्टर हेनरी जेम्स ने ठीक ही कहा है :—

"Story and incident and situation in theatrical work are, unless related to character, comparatively childish and unintellectual."

अर्थात्, 'जब तक नाटकीय कथानक, घटनाएँ और परिस्थितियाँ चरित्र से सम्बद्ध नहीं होतीं, तब तक कोई भी नाटक अपेक्षाकृत दृष्टि से बुद्धिहीन बाल-प्रयास ही माना जायगा' वस्तुतः यह सर्वथा समीचीन एवं सम्मान्य है। प्रसादजी ने नाटकीय पात्रों के सृजन में यह ध्यान रखा है कि उसमें मानव जीवन की गहन अनुभूतियाँ अत्यन्त कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त हों, जिसका प्रभाव पाठक या दर्शक पर अवश्य पड़े। ठीक यही बात 'अजातशत्रु' नाटक में भी पाते हैं।

'अजातशत्रु' द्वन्द्व प्रधान नाटक है और इसमें संघर्ष की तीव्रता है। यों तो इसकी कथा-सामग्री भारतीय इतिहास के सन्धि-युग से ली गई है, परन्तु 'इतिहास की दुरूहता को प्रसाद की प्रतिभा गरल के समान पी गई है और सारतत्व और अमृत साहित्य, सच्ची कला, सुन्दर कृतियों और नाटकों को हमें दिया है। जितना हम प्रसाद को पढ़ते हैं उतना ही उनका इतिहास के आधार पर अवलम्बित काव्यत्व, कला, सुन्दरता, प्रतिभा हमें अभिभूत करती जाती है। इतिहास का इतना उत्तम उपयोग अन्यत्र देखने को नहीं मिलता'। अस्तु हम देखते हैं कि उन्होंने इतिहास के प्राचीन खंडहरों से 'गड़े मुर्दे ही नहीं निकाले हैं' बल्कि ऐसे पात्रों का निर्माण किया है जो सदा हममें भावों का संचार करते हैं'।

यह तो सत्य है कि 'अजातशत्रु' की कथावस्तु जटिल हो गई है और उसीके कारण इसमें चरित्रों की संख्या भी बढ़ गई है। इसमें अजातशत्रु की क्षमा-प्राप्ति मुख्य कथा है और इसी कथा से पात्रों का सम्बन्ध होना चाहिए। मुख्य कथानक से उदयन,

पद्मावती, वासवदत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं है अगर इसे निकाल दिया जाय तो नाटक की कथावस्तु पर कोई आघात नहीं पहुँचेगा। यों तो पद्मावती का नाटक में कुछ महत्व है, परन्तु उसका कार्य और चरित्र-विकास उसकी मां वासवी के समान है। हाँ, मागन्धी का सम्बन्ध कथानक से है।

यह तो हम कह चुके हैं कि 'अजातशत्रु' एक द्वन्द्व प्रधान नाटक है और इसीलिए उनके पात्रों में भी एक द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व सत् और असत् प्रवृत्तियों में है या इसे यों भी कह सकते हैं कि पात्रों में जो द्वन्द्व है वह देव और पशु का। यह द्वन्द्व नाटक के अन्त तक चलता है और परिणाम-स्थल पर सत् की विजय होती है। सत् असत् पर विजयिनी होती है। चरित्र-विकास में अन्तः विकास के लिये जो द्वन्द्व आता है वह दो प्रकार का होता है। एक है अन्तर्द्वन्द्व और दूसरा वाह्यद्वन्द्व प्रस्तुत नाटक में प्रसाद ने पात्रों के दो वर्ग स्थापित कर लिए हैं। एक वे हैं जिनमें सत प्रवृत्तियों की अधिकता है और इसीके कारण वे मनुष्यता की समतल भूमि से ऊपर उठे दिखाई पड़ते हैं। इन पात्रों के सम्मुख प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी रहती हैं और वे इससे परे भी नहीं रहते 'प्रस्तुत अपने व्यक्तित्व और आचरण की निर्मलता द्वारा दुष्टों को भी घात-प्रतिघात के गर्त में से निकालकर पावन मानव-भूमि पर ला खड़ा करते हैं'। इस प्रकार के पात्रों में वासवी मल्लिका, महात्मा बुद्ध, बिम्बसार, आते हैं। दूसरे पात्र वे हैं जिनमें कुप्रवृत्तियों की प्रधानता और सत् प्रवृत्तियों की न्यूनता है। इस प्रकार के पात्र

सर्वथा परतंत्र रहते हैं और दूसरे के संकेत पर कार्य न्यस्त करते हैं। अनुकूल परिस्थितियों के बीच वे चारो ओर ऊधम मचाते हैं और कुसंस्कार से विवश होकर जघन्य एवं गर्हित कुकर्म कर डालते हैं। पहले तो वे अन्तः प्रवृत्तियों के कारण सफलीभूत भी होते हैं परन्तु जब उनके सम्मुख प्रतिकूल परिस्थितियां आती हैं तब वे उनसे सामना नहीं कर पाते और इसीलिए उन्हें ठेस लगती है। अंत में संयोगवश महात्माओं के प्रभाव के कारण उनके चरित्र में विषम परिवर्तन हो जाता है। इस कोटि के पात्रों में अजातशत्रु, विरुद्धक, छलना और मागन्धी हैं। पात्रों के चरित्र में सहसा परिवर्तन नाटकीय दृष्टि से एक दोष है, परन्तु पात्रों में एकाएक यह परिवर्तन का कारण संभवतः 'बौध-साहित्य का प्रभाव है। बौध-साहित्य में एक समय में किसी विशिष्ट कारण एवं व्यक्ति के प्रभाव से एक साथ ही सैकड़ों व्यक्तियों के विचार, मत, सिद्धान्त, धर्म आदि के परिवर्तन के कथन पाये जाते हैं। प्रसाद के पात्रों में भी इसी प्रकार के परिवर्तन हैं। इन पात्रों के चरित्र में एकाएकपन, आकस्मिकता आ गई है जो चरित्र के विकास को अपूर्णता प्रकट करती है, किन्तु ऐसे पात्रों में चरित्र की दृष्टि से यह समझना चाहिये कि इनकी मानसिक अंतः प्रवृतियां पहले से ही उसी ओर झुकी रही हैं और कोई साधन या ठेस मिलने पर अपने निश्चित स्थान पर आ गई हैं। महात्माओं के प्रभाव के कारण भी प्रायः उनमें परिवर्तन होना पाया जाता है। इससे भी चरित्र-विकास की पूर्णता सूचित नहीं होती किन्तु प्रसाद के ये विचार थे कि हमारे गौरव मय अतीत में, ऋषि मुनियों के उस प्रभाववाले जमाने में, तप, त्याग, ज्ञान और दर्शन

की महत्ता और सर्वश्रेष्ठता के युग में उन महात्मा पुरुषों का इतना व्यक्तित्व, प्रभाव रहता था कि उनसे विरोधी पक्ष भी सहमत हो जाता, अपने विरोधों को भूल जाता, अपने व्यक्तित्वों को तुच्छ समझ उनकी सम्मति, उनके आदेशों का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझता था। ऐसे व्यक्तित्व यदपि जन-समूह से विलग रहकर केवल अध्ययन-अध्यापन एवं चिंतन में ही रत रहते थे। राजनीति से प्राय: दूर रह कर मानव-कल्याण चिन्तन में दत्त-चित्त रहते थे किन्तु उनकी महत्ता और प्रभाव व्यापक रहता और राजा से रंक तक को प्राप्त हुआ करता था। इन्हीं कारणों से पात्रों के आकस्मिक परिवर्त्तनों का दोष तो विकास की अपूर्णता प्रकट करनेवाला है उनके विचारों का प्रतीक है'।❀

यह तो सत्य है कि प्रसाद ने अपने पात्रों के चरित्रांकन में मौलिकता दिखलायी है और उन पात्रो में जीवनके सत्य का निरूपण किया है। उनके पात्रों में सभी कोटि के लोग मिलेंगे। लेकिन उन्हें जितनी सफलता 'नारी-हृदय की अभिव्यक्ति' में मिली है उतनी पुरुष-हृदय की वृत्तियोंके विश्लेषण में नहीं।' यह सत्य 'अजातशत्रु' के साथ भी लागू है वस्तुत: साहित्य में नारी को जितनी उपेक्षा मिली, उतना ही प्रसाद ने अपने नाटक में स्त्रीत्व की प्रधानता' दी। जिन नारियोंके संबंध में संसार' अबला 'की संज्ञा प्रदान करता आया था' गुप्तजी के शब्दों में यों कहें—

अबला-जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी-
आंचल में है दूध और आँखों में पानी !

❀हिन्दी नाट्य चिंतन—शिखरचंद जैन पृ० स० १५८

उन्हें प्रसादजी ने 'सबला' के रूप में देखा। जो नारियाँ पहले पुरुष के इशारे पर पायल की झनकार के साथ नर्तन करती थीं वही आज पुरुषों को नचा रही हैं। पुरुषों की उपेक्षा से नारियों में एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और वही प्रतिक्रिया क्रान्ति की जननी का सेहरा लिया। प्रसादजी ने मर्म के साथ अनुभव किया कि आज का युग नारी-जागरण का युग है, इसीलिए इन्होंने अपनी सहानुभूति नारी-पात्रों को दी। इतना ही नहीं, वे यह भी समझते थे कि 'स्नेह, शीतलता, सहनशीलता और सदाचार का पाठ' पुरुषों को स्त्रियों से ही सीखना होगा'। प्रो० केशरी कुमार ने इस सत्य की झांकी 'अजातशत्रु' में भी ली है, जिसके संबंध में उन्होंने लिखा है * कि 'प्रसाद के सभी नाटकों में स्त्री-पात्रों की प्रधानता रही है। पुरुष स्त्रियों के इंगितों पर मरकट की नाई नाचते रहते हैं। पुरुष मानों शतरंज के गोटे हैं जिन्हें नारी जहां चाहती हैं रख देती है। 'अजातशत्रु' नाटक की कथा का सूत्र भी स्त्रियों के ही हाथों में है। मगध में विप्लव का सूत्रपात छलना करती है और कौशल में शक्तिमती। अजातशत्रु और विरुद्धक तो उनके उपकरण (tools) मात्र हैं। वे अपनी माताओं के इशारे पर यंत्र-वत् कार्य किये जाते हैं। विफल प्रेम से उद्विग्न हो विरुद्धक कुछ अस्त-व्यस्त हो उठता है किन्तु माता क्षण भर में उसकी शिथिलता दूर करती है और प्रतिज्ञा के बन्धन में बांध कर ही लौटती है। मल्लिका की मंत्रणा से अजातशत्रु भी अन्यमनस्क-सा हो जाता है और उसकी विमुखता

---

* प्रसाद और उनके नाटक—प्रो० केशरी कुमार, पृ० सं० ३४

देखकर ऐसा जान पड़ने लगता है कि अब वस्तु की दीवारें ढह जाएँगी। किन्तु छलना का उपालंभ अजात में नवीन शौर्य भरता है और वह पुनः कार्य की ओर अग्रसर होता है। अंत में जब कथा के तंतु विस्तृत हो चतुर्दिक बिखर जाते हैं उन्हें संभालने के लिए भी लेखक को नारी का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। मल्लिका और वासवी वस्तु के बिखरे हुए तंतुओं को बटोरकर नाटक को एक कलात्मक पर्यवसान देती हैं। स्त्रियों की इस प्रधानता के कारण पुरुष-पात्रों के चरित्रों को निखरने का अवसर ही नहीं मिलता। विरुद्धक में अजात से अधिक प्रखरता आई है, चूंकि वह कुछ काल के लिए माता के अजिर से दूर रहता है और आत्मनिर्भरता का संबल पकड़ कर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। अजात के व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास का भी एक अवसर आया था जब वह कौशल के कारागार में बन्द था; किन्तु लेखक कथा की परिसमाप्ति के लिए शायद अधीर हो उठा और वहां भी द्रुतगति से वासवी आ पहुँची और अजात को सीखचों से बाहर निकाल लाई। नारी का सूक्ष्म विश्लेषण करते समय प्रसाद जी ने कारायण के मुख से कहलाया कि 'हे देवि! तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरुष की संकीर्ण! कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री-जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है जो अन्तर्जगत का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसीलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहन रूप दिया है—रमणी का रूप।' (अंक ३ दृश्य ४) इसी संबंध में न्यूमैन ने ठीक ही लिखा है—If thy soul is to go

higher into spiritual blessedness it must become an woman. Yes however manly Thou mayest be amongmen men.

ये नारियाँ सिर्फ घटनाओं के विकास में सहायक नहीं हैं बल्कि पुरुषों को मंगलमय जीवन की ओर अग्रसर करने में भी। मल्लिका इसी प्रकार की नारी है। उसके व्यक्तित्व की इतनी ऊँचीउड़ान है कि गौतम का व्यक्तित्व दब-सा गया है। मल्लिका के व्यक्तित्व में एक आध्यात्मिक बल है जिससे पुरुष पात्र प्रभावित हैं और उसके सद्व्यवहारों से क्रूर व्यक्तियों की प्रकृति भी फेर दी गई है। वासवी के चरित्र में भी एक बल है और उसमें बिम्बसार की अपेक्षा धैर्य और सन्तोष है। वासवी ने अपनी अखण्ड तपस्या से पतिव्रता धर्म को इतना महान बना दिया है कि वहां पर पुरुष पात्र की दृष्टि नहीं पहुँच सकती। 'अजातशत्रु' में एकमात्र मागन्धी ही है जिस पर पुरुष पात्र का प्रभाव पड़ा है। गौतम के सम्पर्क में आने के उपरान्त उसके चरित्र में परिवर्तन आ गया है परन्तु जहाँ गौतम के प्रभाव से 'अजातशत्रु' के कुछ पात्रों ने देवत्व की कोटि में अपने को ला रक्खा हैं वहाँ मागन्धी ने नारित्व को ही अपने अन्दर आत्मसात् कर लिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद जी के 'अजातशत्रु' में नारी के दो रूपों का अंकन हुआ है। नारी का प्रथम रूप है—त्यागमयी, विनयशीला, नम्र, वात्सल्यमयी, क्षमामयी आदि, जिसके अन्तर्गत वासवी और मल्लिका हैं और उसका दूसरा रूप है—उग्रमयी, कुटिलतामयी, विलासिनी, वासनामयी

महत्वाभिलाषणी, मदोन्मत्त आदि, जिसके अन्तर्गत छलना और मागन्धी हैं।

अस्तु, हम देखते हैं कि प्रसाद की नारी एक ओर सद्गुणों से मंडित एवं अपूर्व गरिमा से गौरवान्वित है, तो दूसरी ओर कुप्रवृत्तियों से भी। यही है प्रसाद के नारी-जीवन का रहस्य।

अजातशत्रु

अजातशत्रु नाटक का प्रमुख पात्र है। वह नाटक के आरंभ में एक क्रूर राजकुमार के रूप में दिखलाया गया है। वह अपनी हिंसक मनोवृत्ति का परिचय अपने अधिकार पूर्ण स्वरों में देता है—'क्यों रे लुब्धक! आज तू मृगशावक नहीं लाया। मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा?' मृगशावक के न आने के कारण अजात की निर्दयता लुब्धक के साथ क्रीड़ा करना चाहती है- 'हाँ तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ, समुद्र, ला तो कोड़ा!' यहीं से अजातशत्रु में क्रूरता, कठोरता एवं हिंसक मनोवृत्तियों का विकास होता है क्योंकि वह समुद्रगुप्त जैसे चाटुकारों के द्वारा प्रेरित किया जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि उसमें स्वभावजन्य क्रूरता नहीं है बल्कि उसकी क्रूरता शिक्षाजन्य है। अजातशत्रु की

बड़ी बहन पद्मावती, जो उसके यहाँ अतिथि बन कर आई है, स्नेहवश लुब्धक का पक्ष ग्रहण करती है परन्तु उद्धत, उद्दंड अजात उसकी 'बढ़ाबढ़ी सहन नही कर सकता'। पद्मावती उसे सीख देती है कि मानवी सृष्टि करुणा के लिये है' तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो—'यह पद्मा बार-बार मुझे अपदस्त किया चाहती है'। यहां पर हम देखते हैं कि उसने शील और नम्रता का पाठ पढ़ा ही नहीं। उसका कारण यह है कि उस पर माता की शिक्षा का प्रभाव अधिक है क्योंकि उसकी माँ का विचार था कि 'कुणीक का हृदय छोटी-छोटी बातों में तोड़ देना, उसे डरा देना, उसकी मानसिक उन्नति में बाधा देना है। वह तो यह समझती थी कि 'अहिंसा भिक्षुकों की भद्दी सीख है'। इसीलिए उसे 'भिखमंगों का पाठ नहीं पढ़ाया' गया बल्कि उसे तो 'निरीह जीवों को पकड़ कर निर्दयता सिखाने में सहायता पहुँचाने वाली शिक्षा दी गई। इसी के फलस्वरूप उसके चरित्र में उद्दण्डता, अधिकार-दर्प, एवं दुराग्रह का समन्वय है।

अजातशत्रु का यह दुर्विनीत स्वभाव अपने पिता बिम्बसार के साथ भी है. गौतम से पूछे जाने पर कि 'क्यों कुमार! तुम राज्य का कार्य मंत्रि-परिषद् की सहायता से चला सकोगे'? अजात की महत्वाकांक्षा के वेग ने शिष्टाचार का भी अतिक्रमण कर दिया और वह शिष्टाचार के साधारण नियम को भंग करता हुआ कहता है—'क्यों नहीं! यदि पिताजी की आज्ञा हो!'—यही है अजातशत्रु का अविनय! अजात की उक्त उक्ति से उसका आत्मविश्वास झलकता है पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। कुछ ही समय के उपरान्त

सत्ता के लिए अजातशत्रु के हृदय की अतृप्त पिपासा का मूल कारण पता चल जाता है। इस सत्ता को प्राप्त करने में देवदत्त का हाथ रहा, जिसने लिच्छवी कुमारी छलना को मनोबल दिया और उसकी आज्ञा से अजातशत्रु ने शासन का बागडोर अपने हाथ में लिया।

राज्याधिकारी होने पर वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक बन जाता है। काशी की प्रजा अजात को कर देना नहीं चाहती है क्योंकि 'हमलोग उस अत्याचारी राजा को कर न देंगे, जो अधर्म्म के बल से पिता के जीते जी सिंहासन छीन कर बैठ गया है और जो पीड़ित प्रजा की रक्षा भी नहीं कर सकता, उनके दुःखों को नहीं सुनता'।

इस पर अजातशत्रु क्रुद्ध होकर कहता है—'यह क्या सच है समुद्र! मैं यह क्या सुन रहा हूँ! प्रजा भी ऐसा करने का साहस कर सकती है? चींटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है? राजकर मैं न दूँगा—यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गई? काशी का दंडनायक कौन मूर्ख है? तुमने उसी समय उसे बन्द क्यों नहीं किया?'—इस कथन में आवेशपूर्ण उग्रता है। हमने जिस प्रकार लुब्धक को पीटने के लिए उद्यत अजात की मुद्रा का निरूपण किया है उसी प्रकार का विकसित रूप इस अवसर पर देखते हैं। उसे यह विदित है कि 'यह काशी की प्रजा का कंठ नहीं, इसमें हमारी विमाता का व्यंग्य स्वर है'। और वह जोरदार शब्दों में कहता है,—इसका प्रतिकार आवश्यक है। इस प्रकार अजातशत्रु

को कोई अपदस्त नहीं कर सकता।'--इससे यह ध्वनि निकलती है कि अजातशत्रु में अहम्मन्यता, प्रतिद्वंदिता एवं मत्सरता का भाव व्याप्त है।

यहीं से उसके जीवन-इतिहास का दूसरा पृष्ठ खुलता है। अब वह किशोर नहीं है बल्कि अनुभवी शासक है। वह अपनी जिम्मेवारी का अनुभव करता है। यहाँ पर वह शासन के संचालन की कूटनीति से पूर्णतः परिचित है और देवदत्त की सलाह से नियम पूर्वक परिषद् का आहवाहन करता है, कुशल शासक की तरह अपने विचारों को परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत करता है—

'आप लोग राष्ट्र के शुभ चिन्तक हैं। जब पिता जी ने यह प्रकांड बोझ मेरे सिर पर रख दिया और मैंने इसे ग्रहण किया, तब इसे भी मैंने किशोर-जीवन का एक कौतुक ही समझा था। किन्तु बात वैसी नहीं थी। मान्य महोदयो, राष्ट्र में एक ऐसी गुप्त शक्ति का कार्य खुले हाथों चल रहा है जो इस शक्तिशाली मगध राष्ट्र को उन्नत नहीं देखा चाहती। और, मैंने केवल इस बोझ को आप लोगों की शुभेच्छा का सहारा पा कर लिया था; आप लोग बताइये कि उस शक्ति का दमन आप लोगों को अभीष्ट है कि नहीं ? या अपने राष्ट्र और सम्राट को आपलोग अपमानित करना चाहते हैं ?'—इस प्रकार हम देखते हैं कि अजातशत्रु एक कुशल वक्ता भी है और परिस्थिति के अनुसार अपने विचारों को प्रगट करता है। परिषद् को उत्तेजित कर वह अपने पक्ष में मत ग्रहण करता है।

युद्ध होता है। प्रसेनजित हार जाता है और वह सर्प - सा फुफकारता हुआ घायल प्रसेनजित की खोज करता मल्लिका के निकट आता है। मल्लिका के सम्पर्क में आते ही वह अलौकिक शान्ति का अनुभव करता है और यहीं से उसके जीवन-इतिहास का तीसरा पृष्ठ खुलता है। इस स्थल पर वह मल्लिका के माधुर्यमय व्यक्तित्व से प्रभावित हो कर शान्त हो उठता है—'देवी! आप कौन हैं? हृदय नम्र हो कर आप ही आप प्रणाम करने को झुक रहा है। ऐसी पिघला देने वाली वाणी मैंने कभी नहीं सुनी।' इतना ही नहीं वह मल्लिका के सम्मुख कोशल पर आक्रमण न करने का प्रण करता है। वह 'युद्ध की भयानकता देखकर कांप जाता है' और कहने लगता है कि 'युद्ध में बड़ी भयानकता होती है, कितनी स्त्रियाँ अनाथ हो जाती हैं। सैनिक जीवन का महत्वमय चित्र न जाने किस षड्यन्त्रकारी मस्तिष्क की भयानक कल्पना है। सभ्यता से मानव की जो पाशव वृत्ति दबी हुई रहती है, उसको इसमें उत्तेजना मिलती है।' इस कथन से स्पष्ट होता है कि अजातशत्रु के हृदय में द्वन्द है। इतना ही नहीं वह राज्य-सिंहासन का त्याग कर अपने पिता की सेवा करने को प्रस्तुत है। इसका एक मात्र कारण यह है कि उसके व्यक्तित्व पर मल्लिका की करुणा, संवेदना एवं पवित्रता ने आकर अपना डेरा डाल रक्खा है, परन्तु वास्तविक रूप में उसके हृदय का परिवर्तन नहीं हुआ था क्योंकि छलना, विरुद्धक और देवदत्त की कूटचातुरी उसे फिर युद्ध की ओर ले जाती है। वह अपनी लिच्छवी माता के व्यक्तित्व से पूर्णतः प्रभावित है और इसीलिए 'जैसी माता

की आज्ञा' कह कर रण के लिए प्रस्थान करता है। अतः यह स्पष्ट होता है कि अजातशत्रु में चारित्रिक बल का अभाव है।

अजातशत्रु रण-क्षेत्र की ओर जाता है, परन्तु उसका हृदय युद्ध करने को तत्पर नहीं है। इस अवसर पर वह पराजय का पक्ष ग्रहण करता है जिसका एक मात्र कारण है--विरक्तिपूर्ण अन्यमनस्कता। अजातशत्रु अब प्रसेनजित का बन्दी है। इस समय उसका हृदय जीवन के चतुर्थ पक्ष का ग्रहण करता है। बन्दी गृह में रह कर भी, वह कोशल कुमारी बाजिरा के रूप की मधुरिमा से आकृष्ट होता है। बाजिरा से प्रेम करने के सिलसिले में ही उसके हृदय में करुणा उत्पन्न होती है और प्रेम के व्यापक क्षेत्र में उसके हृदय की अवशिष्ट क्रूरता और कठोरता का तिरोभाव हो जाता है। अब उसके हृदय में कर्त्तव्य का भी ज्ञान हुआ क्योंकि 'प्रेम द्रोह को पराजित करता है।' बाजिरा के प्रेम से ही आज उसका विद्रोही हृदय, स्वयं करुणा से अभिभूत हो गया है। अब वह प्रेम के महत्व को मर्म से अनुभव करने लगा है।

प्रसेनजित के द्वारा वह द्वितीय युद्ध में पराजित हुआ, जिससे उसके हृदय को एक गहरी ठेस लगी। इस ठोकर से ही अजात-शत्रु के सभी सहवासजन्य दोषों का परिमार्जन हुआ। वह बन्दी गृह से मुक्त हुआ और तब उसे विमाता की महत्ता ज्ञात हुई। उसकी आंखें खुलती हैं और अज्ञान का पर्दा आप से आप हट जाता है। अब परिस्थितियां दूसरी ओर मुड़ती हैं जो एक तीव्रता के साथ पिता की ओर खींचने लगीं। अजात

विरुद्धक को अपने पिता से क्षमा की भीख माँगते हुए देखता है। इधर उसे पुत्र-रत्न की प्राप्ति होती है और तब उसे पितृ-स्नेह का गौरव विदित हुआ। अन्त में वह अपने पिता के चरणों में प्रणत होता है क्योंकि वह अपनी भूल को भली भाँति समझता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक के अन्त में अजातशत्रु के चरित्र में मनुष्यता की प्रतिष्ठा होती है।

विरुद्धक

विरुद्धक कोशल का राजकुमार है। उसकी माता शक्तिमती दासी-पुत्री है। अजातशत्रु की देखा देखी में विरुद्धक अपने पिता से राज्य-संचालन का अधिकार परोक्ष रूप में मांगता है और वह निःशंक हो कर कहता है—'पुत्र यदि पिता से अधिकार मांगे तो इसमें दोष ही क्या है!' प्रसेनजित, विरुद्धक के परोक्ष संकेत को समझता है और वह उसके अमर्यादित गर्व को अच्छी तरह कुचल देने के लिए युवराज-पद से वंचित कर देने की सूचना कर देते हैं। इस निर्वासन की सूचना से विरुद्धक का हृदय फुफकार उठता है। वह अपना मार्ग स्वयं चुनता है। वह असहाय और निराधार हो कर भी हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने वाला नहीं क्योंकि उसमें आत्म-निर्भरता तथा आत्म पौरुष है। 'घोर अपमान! अनादर की

पराकाष्ठा और तिरस्कार का भैरवनाद।' सब-के-सब उसके जीवन के लिए भार बन गए; परन्तु वह कोशल देश की सीमा से बाहर नहीं जाना चाहता क्योंकि उसका हृदय मल्लिका नामक एक सुन्दरी में जाकर टँग गया है। जिस समय वह मल्लिका के सौन्दर्य का गुणगान कर रहा है उसी समय उसकी माता उसकी मानसिक दुर्बलता को दूर करने के लिए ताड़ना देती है और उसे इस दलदल से निकाल कर 'महात्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुण्ड में कूदने को प्रस्तुत' देखना चाहती है। माता के द्वारा उत्तेजित किये जाने पर वह निश्चय करता है कि—'आज से प्रतिशोध लेना मेरा कर्त्तव्य और जीवन का लक्ष्य होगा। माँ, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के मूल कारण इन शक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहाकर इस कोशल के सिंहासन पर बैठकर तेरी बन्दना करूँगा'।— इस कथन से स्पष्ट होता है कि उसके चरित्र में सद्प्रवृत्तियों का अभाव नहीं है बल्कि सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि कर्त्तव्य-पथ पर आगे बढ़ने के लिए एक व्यक्ति का संकेत चाहता है। इसलिए माता की ठोकर ने उसके प्रेममय-तंतु को तोड़ डाला और तब वह कर्मठ व्यक्ति की तरह कार्य न्यस्त करने को तैयार हो जाता है। उसकी उक्ति से मातृभक्ति की सुगन्ध आती है।

निर्वासन के उपरान्त, वह कोशल की सीमा को त्याग देता है और बन जाता है 'डाकू' शैलेन्द्र। अपमान की तितिक्षा ही उसके हृदय में घर कर गई है इसीलिए वह अपने लग्न में तल्लीन है और अपनी शक्ति से ही 'अधिकार एवं स्वत्व प्राप्त करना चाहता है

वह काशी में ऊधम मचाता है और सारा नगर उसकी प्रचण्ड शक्तियों से आतंकित है। डाकू बन जाने के उपरान्त उचित-अनुचित की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। वह लूट-मार, हत्या आदि के द्वारा शक्ति का संचय करता है। विरुद्धक में साहसिकता एवं आत्मविश्वास है, वह इतनी मात्रा में विद्यमान है कि वह किसी से दया की भीख नहीं मांगता। इस आतंक को शान्त करने के लिए सेनापति बन्धुल भेजा जाता है। वह सर्व प्रथम बन्धुल को अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न करता है, पर असफल होता है। सेनापति बन्धुल विरुद्धक के द्वारा छल से मारा जाता है।

जबसे उसके हृदय में साहसिकता का आविर्भाव हुआ तब से उसके जीवन की, उसके हृदय की कोमलता नष्ट हो गई। उसने मल्लिका को 'अपने यौवन के ग्रीष्म की अर्द्ध रात्रि में आलोक पूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल हीरक कुसुम के रूप में आते हुए देखा' था परन्तु वह बन्धुल के 'उष्णीष का फूल' बनगई तब वह विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिए कालस्वरूप बन गया'। इस प्रकार उसके हृदय का 'प्राकृतिक स्नेह का स्रोत एक बार ही सूख' गया। 'कठोर और क्रूर कर्म करते करते' उसके 'हृदय में चेतनालोक की गुदगुदी और कोमल स्पन्दन 'नाम' की कोई वस्तु न रह गई। श्यामा के सम्पर्क में जब विरुद्धक आया तो उसके हृदय में प्रेम की रागिनी बजी, परन्तु उसने शीघ्र ही अनुभव किया कि 'मैं स्वयं भूल गया हूँ कि मैं कौन था, मेरा उद्देश्य क्या था?......यह प्रेम दिखा कर मेरी स्वतन्त्रता हरण कर रही है। अब नहीं, इस गर्त

में अब नहीं गिरूँगा। कर्मपथ के कोमल और मनोहर कंटकों को कठोरता से, निर्दयता से हटाना ही पड़ेगा'। इस निष्कर्ष पर पहुँच कर उसने श्यामा के प्रणय का प्रतिदान न पाकर उसका प्राण ले लिया। इतना ही नहीं, शारीरिक गति जब मंद पड़ गई तब उसके शरीर पर के आभूषण को भी उतार लिया क्योंकि उसे धन की अनिवार्यता रही। यहाँ पर उसकी नीचता की पराकाष्ठा है, क्रूरता की चरम-सीमा है।

इसके उपरान्त वह अपने क्षत्रियत्व की परीक्षा देने के लिए अजातशत्रु से जा मिलता है और कुशलता पूर्वक उसका विश्वास पात्र बन जाता है। वह अपने विश्वास को प्रकट करने के लिए खंग लेकर शपथ ग्रहण करता है—'कौशांवी की सेना पर मैं आक्रमण करूँगा……जब मैं पदच्युत और अपमानित व्यक्ति हूँ तब मुझे अधिकार है कि सैनिक कार्य में किसी का भी पक्ष ग्रहण कर सकूँ, क्योंकि यही क्षत्रिय की धर्मसंगत आजीविका है। हां, पिता से मैं स्वयं नहीं लड़ूँगा'।-यहाँ पर हम उसकी सुबुद्धि का प्रकटीकरण पाते हैं।

युद्ध होता है। विरुद्धक घायल हो जाता है। मल्लिका उसकी सेवा शुश्रूषा करती है। इस पर विरुद्धक की नीच बुद्धि यह गवाही देती है कि स्यात् मल्लिका उससे प्रेम करती है। इस पर मल्लिका उसे डांट सुनाती है। इसी अवसर पर श्यामा का आगमन होता है और वह उसके विश्वासघात को प्रमाणित करती है। मल्लिका ने उसके चरित्र का विश्लेषण करते हुए कहा है

'तुमने कपिल वस्तु के निरीह प्राणियों का, किसकी भूल पर, निर्दयता से वध किया, तुमने पिता से विद्रोह किया, विश्वासघात किया, एक वीर को छल से मार डाला और अपने देश के, जन्मभूमि के, विरुद्ध अस्त्र ग्रहण किया।....जो रमणी तुम्हें प्यार करती है, जिसने सर्वस्व तुम्हें अर्पण किया था, उसे भी तुम न चाह सके'। यहाँ पर मल्लिका के प्रभाव से उसमें परिवर्तन होता है और 'वह मल्लिका के सम्मुख अपनी वैयक्तिक हार स्वीकार करके क्षमा का प्रार्थी बन जाता है। इस प्रकार उसमें स्वावलंबन, दृढ़ता, उद्योग, वीरता, विवेक आदि अनेक पुरुषोचित गुण और धर्म दिखाई पड़ते हैं'।

अजातशत्रु और विरुद्धक

'अजातशत्रु और विरुद्धक दोनों उस कठोर दुर्दमनीय पुरुष भावना के प्रतीक हैं जो महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए तूफान की तरह प्रलयंकर और विध्वंसकारी रूप धारण कर लिया करती है'।

अजात और विरुद्धक दोनों क्रमशः मगध और कोशल-नरेश के पुत्र हैं। दोनों राजपुत्र हैं। दोनों की माताएँ महत्वाकांक्षी हैं और दोनों अपनी माताओं के संकेत पर कार्य करते हैं। दोनों

महत्वाकांक्षा से उत्प्रेरित हैं। एक ओर गौतम से पूछे जाने पर कि वह परिषद् की सहायता से राजकार्य चला सकेगा या नहीं, वह कह उठता है—'क्यों नहीं, पिताजी यदि आज्ञा दें'। इससे उसमें आत्मविश्वास है। विरुद्धक का कथन है कि 'पुत्र यदि पिता से अधिकार माँगे तो इसमें दोष ही क्या है ? परन्तु दोनों राजकुमारों की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। प्रथम का पिता दार्शनिक एवं दुर्बल है परन्तु दूसरे का नीतिज्ञ एवं निरंकुश। प्रथम शासन का बागडोर अपने पुत्र के हाथ में दे देता है पर दूसरा उसे 'युवराज-पद' से वंचित कर देता है।

शासन के बागडोर को वहन करते ही अजात में उदण्डता, अहंकार और दुराग्रह का समावेश हो गया परन्तु विरुद्धक निर्वासित होने पर 'साहसी शैलेन्द्र' बन गया। अजात को अपने कार्य के लिए एक निर्देशक की आवश्यकता थी, जिनमें छलना और देवदत्त रहे परन्तु विरुद्धक अपने मनोबल पर टिका रहा। इसी स्वावलम्बन एवं आत्मनिर्भरता के कारण वह 'पात्रा-वीर बन्धुल से लोहा लेता है और अजातशत्रु से मिलकर एक प्रबल राजनीति का नियामक बनता है।' इस तरह की आत्मनिर्भरता एवं आत्म पौरष का नितान्त अभाव अजातशत्रु में है।

अजातशत्रु में राज्यसत्ता की लिप्सा एवं विरुद्धक में अपमान की तितिक्षा है। अजात की माता का 'मूक अपमान' निराधार है परन्तु विरुद्धक की माँ का बिल्कुल सत्य। अजात की आत्मा अपनी विमाता एवं निस्पृह पिता के प्रति शुद्ध नहीं है, पर विरुद्धक अपनी मां की कद्र करता है। अजात दर्शकों के लिए घृणा का पात्र एवं विरुद्धक सहानुभूति का है।

यों तो दोनों राजकुमार देखने में कठोर हैं परन्तु उन दोनों के हृदय में प्रेम की धारा प्रवाहित हो रही है। जहाँ अजात ने वाजिरा को प्यार किया, वह उसे मिली भी, वहाँ विरुद्धक ने मल्लिका को, पर वह विफल प्रणय का टीस दे गई। मल्लिका बंधुल के 'उष्णीष का फूल' बन ही गयी जिसके कारण यह टीस विरुद्धक के जीवन के अंत तक बनी रही।

दोनों राजकुमारों का षड़यंत्र असफल होता है। इन दोनों राजकुमारों की प्रवृत्तियों में महान परिवर्तन मल्लिका की नैसर्गिक कुटी में होता है। वस्तुतः यहीं दोनों का कायाकल्प होता है। एक ओर मल्लिका विरुद्धक को प्रसेनजित् के द्वारा फिर से अपने पदों पर प्रतिष्ठित कराती है दूसरी ओर वासवी उसे बन्दी गृह से बाहर खींच लाती है।

अंत में दोनों की उद्दण्डता अहंभाव एवं दुराग्रह का अंत होताहै और पिता के चरणों में शरण ग्रहण करतेहैं।



बिम्बसार

बिम्बसार मगध का सम्राट है। नाटक में उनका दर्शन उनके जीवन के संध्याकाल से होता है। वह एक निवृत्ति-परायण पात्र है। वह जीवन के प्रति उदासीन है। उनमें वैराग्य-भावना है, जिसका स्पष्टीकरण उनकी उक्ति से ही होता है कि 'अहा, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है'। इतना ही नहीं उनका जीवन कुछ दार्शनिक-सा प्रतीत होता है। यह जो जन्मजात प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, वह महात्मा गौतम के व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण ही और यही दार्शनिक प्रवृत्ति अन्त तक बनी रही। अपनी छोटी रानी छलना और अपने पुत्र अजात के झूठे गर्व और राज्य-लिप्सा के कारण बिम्बसार का हृदय दुःख का गृह बन गया है। वह सर्वदा दुराग्रही कुणीक और महत्वाकांक्षिणी माता से दूर रहना चाहता है। इसी ~वसर पर छोटी रानी छलना आती है और व्यंग्य-वाक्यों द्वारा उसके मन को और भी उद्विग्न कर देती हैं, परन्तु बिम्बसार धीर, दृढ़ और शान्त हैं। वह छोटी रानी पर क्रोध नहीं प्रकट करता है। छलना और बिम्बसार से बातचीत होती है और उसी कथनोपकथन के द्वारा हमें ज्ञात होता है कि उसका पुत्र उसकी आज्ञा का उल्लंघन करता है और छोटी रानी के कारण ही पद्मावती रुष्ट होकर चली जाती है। इसी वार्त्तालाप में वह बिम्बसार को स्पष्ट सूचना देती है कि आपको कुणीक के युवराज्याभिषेक की घोषणा आज ही करनी

पड़ेगी'; वासवी भी छलना के पक्ष में सम्मति प्रकट करती है। इतना ही नहीं, गौतम भी उन्हें राज्य त्याग कर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करने की राय देते हैं। बिम्बसार अवसरोनुकूल हो राज्य का भार अजातशत्रु के कंधे पर दे डालते हैं। विम्बसार ने राज्य का त्याग आत्म-प्रेरणा से प्रेरित होकर नहीं किया है बल्कि वाह्य-परिस्थितियों के बन्धन में बँध जाने के कारण ही उन्हे इस प्रकार का कार्य न्यस्त करना पड़ा। उन्होंने अधिकारों की तिलांजलि तो दी अवश्य पर पूर्णरूपेण वैराग्य को ग्रहण नहीं किया। उनके हृदय में एक कचट रह गई क्योंकि इस कार्य का संपादन उनकी इच्छा के अनुकूल नहीं हुआ। इस प्रकार का महत्तम त्याग वासवी की अनुमति तथा गौतम के उपदेश के कारण हुआ।

विम्बसार के हृदय में अधिकार से वंचित हो जाने की वेदना नहीं है बल्कि उसे 'आध्यात्मिक उपयोगिता' की संज्ञा प्रदान करते हैं। उनका कथन है कि 'संसारी को त्याग तितिक्षा या विराग होने के लिये यह पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नहीं रह जाता, क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है'। उनके इस विचार में प्रभाव डालने के लिए तत्काल ही कह उठती है कि 'मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि आपको अधिकार से वंचित होने का दुःख नहीं'। वासवी की इस उक्ति में व्यंग्य की एक ध्वनि प्रकट होती है क्योंकि एक दूसरे स्थल पर राज्य के प्रति एक मोह-सा भाव विम्बसार के हृदय में है, यथा–'दुःख तो नहीं है। देवी! फिर भी इस कुणीक के व्यवहार से अपने अधिकार का ध्यान हो जाता है।

तुम्हें विश्वास हो या न हो, किन्तु कभी-कभी याचकों का लौट जाना मेरी वेदना का कारण होता है'। फिर भी बिम्बसार गंभीर हैं और अपने विचारों पर दृढ़। वासवी इस कष्ट को दूर करने के हेतु पीहर से मिले हुए काशी-राज्य की आय ले लेने का प्रस्ताव प्रस्तुत करती है तब वह कहता है 'मुझे फिर उन्हीं झगड़ों में पड़ना होगा देवी, जिन्हें अभी छोड़ आया'। जीवक आकर बिम्बसार को सहायता देना चाहता है, पर वह बाहरी सहायता की अपेक्षा करता है और झगड़े को कभी प्रोत्साहन भी नहीं देता है। अंत में वह वासवी के कथन से सहमत हो जाता है।

बिम्बसार वैभव पूर्ण बाह्य-आडम्बरों से दूर है, विरक्त है। वह 'सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल' होने की आकांक्षा भरता है जिससे 'संसार की दृष्टि' उस पर न पड़े। वह अपने आप को 'सम्राट' शब्द से आभूषित नहीं करना चाहता है क्योंकि वह पूर्ण मनुष्य है। 'पर यह मानव है दुर्बलताओं में लिपटा हुआ एक दिव्य जीव'। वह नम्रता की मूर्ति है और उसके जीवन में मानवता ओत-प्रोत है।

रानी छलना और पुत्र अजात के क्रूर तथा दुर्विनीत व्यवहारों से बिम्बसार का हृदय सन्तप्त है। उसे जब यह ज्ञात होता है कि इसी प्रकार का घटनाचक्र और भी राज्यों में चल रहा है तब उसका हृदय और भी क्षुब्ध हो उठता है। इस लिए वह अजातशत्रु को 'मगध का सम्राट 'अजातशत्रु' कहता है परन्तु जैसे ही अजातशत्रु अपने अहंकार की गठरी पटक

पिता के चरणों में प्रणत हो जाता है वैसे वह कह उठता है। 'नहीं-नहीं मगधराज, अजातशत्रु को सिंहासन की मर्यादा नहीं भंग करनी चाहिए। मेरे दुर्बल चरण—आह छोड़ दो!' अंत में बिम्बसार का रोष दूर हो जाता है। वह व्यंग्य करता है—अपने पुत्र पर, जो उनके चरित्र की दुर्बलता है क्योंकि व्यंग्य संसार भर के उपद्रवों का मूल जड़ है। इसी व्यंग्य का उसके हृदय में निवास है। 'बिम्बसार के चरित्र का प्रधान लक्षण उसकी दुर्बल प्रकृति है। जिसके कारण वह शान्ति की इच्छा करता हुआ भी शान्ति नहीं पा सकता है बिम्बसार के चरित्र का परम श्रेष्ठ गौरव इसी बात में है कि उसकी दुर्बलताओं का व्याहरण करके वैराग्य वृत्ति के साथ उनका कुशल सामंजस्य किया गया है। जहां उसके चरित्र के विशिष्ठ गुणों की संकरता दिखाई गई है, वहां लेखक को सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का अच्छा प्रकाश होता है।* वासवी आकर छलना और अजात की ओर से सफाई पेश करती है और स्वीकार करते हुए कहता है कि 'मैं मनुष्य हूँ और इन मायाविनी स्त्रियों के हाथ का खिलौना हूँ'। उद्दंड पुत्र को क्षमा कर देने से वृद्ध बिम्बसार के हृदय की पीड़ा कम हो जाती है, पर उसका हृदय बोझिल होकर बैठजाता है तथा यह कहता भी है—'इतना सुख एक साथ मैं सहन न कर सकूंगा। तुम सब विलम्ब कर आए।' इस प्रकार हम देखते हैं कि दार्शनिक बिम्बसार ने संसार की उलझनों को सुलझाया और सुखमय समाज का निर्माण किया।

* प्रसाद की नाट्यकला—प्रो० रामकृष्ण 'शिलीमुख' पृ०-स०-१८९-९०

—०—

प्रसेनजित

'प्रसेनजित् कोशल का राजा है। वह एक कुशल शासक है परन्तु उसका आचार-विचार प्राचीन कड़ियों में बंधा हुआ है। वह अजातशत्रु के क्षुद्र विप्लव से क्षुब्ध है परन्तु उसका पुत्र विरुद्धक अजातशत्रु के द्वारा न्यस्त कार्य की सराहना करता है क्योंकि 'युवराज को राज्य संचालन की शिक्षा देना महाराज का ही कर्त्तव्य है'। राजकुमार के परोक्ष संकेत को प्रसेनजित् समझता है। उसे शंका होती है और आवेश में आकर उसका 'बड़प्पन और महत्त्वाकांक्षा-पूर्ण हृदय अच्छी तरह कुचलने' को प्रस्तुत हो जाता है। प्रसेनजित् उसकी अशिष्टता पर खीझ उठता है और वह अशिष्ट विरुद्धक को न केवल 'युवराजपद से बंचित' ही करता है वरन् निर्वासित भी। इसके साथ-साथ वह उसकी माता का राजमहिषी का-सा सम्मान न करने की आज्ञा भी देता है। इस प्रकार वह ईर्ष्यालु तथा क्रोधी प्रकृति का व्यक्ति प्रतीत होता है और उसकी अदूरदर्शिता से विरुद्धक राष्ट्र का शत्रु बन जाता है। इसका एकमात्र कारण है—प्रसनेजित् का जातीय अभिमान। इसी की उत्तेजना में आकर वह सबल नीतिज्ञ होते हुए इस प्रकार का कार्य करता है जो उसकी चारित्रिक दुर्बलता है। अमात्य भी प्रसेनजित् की इस आज्ञा को अनुचित कहता है—'यह न्याय नहीं है। कोशल के राजदंड ने कभी ऐसी व्यवस्था नहीं दी। किसी दूसरे के पुत्र का कलंकित कर्म्म सुनकर श्रीमान् उत्तेजित हो अपने पुत्र को

दंड दें, यह तो श्रीमान् की प्रत्यक्ष निर्बलता है? इस पर वह अपने अमात्य को चुप रहने की आज्ञा देता है। अतः हम देखते हैं कि वह असहनशील और उग्र स्वभाव का राजा है।

प्रसेनजित् का व्यक्तित्व ईर्ष्या से आलोड़ित है, पर वह भय मिश्रित है। स्वामीभक्त एवं रणकुशल पराक्रमी सेना नायक बन्धुल पर वह कोशल के गौरव की बात समझता है क्योंकि उसने कोशल-राज्य के अन्तर्गत होनेवाले विद्रोह को शान्त कर कर रक्खा है। इस पर वह बन्धुल की जय' करते हैं। 'जय' शब्द को सुन वह चौंक उठता है, और इसके साथ-साथ वह सशंकित भी।

बन्धुल से उसे भय हो जाता है और वह षडयंत्र रचता है। वह उसकी हत्या के लिए शैलेन्द्र नामधारी डाकू के पास गुप्त आज्ञा पत्र भेजता है। बन्धुल की हत्या षड्यन्त्र द्वारा होती है और यहीं से प्रसेनजित् का पतन होने लगता है। छल, प्रवंचना तथा कपट-व्यवहार द्वारा उसका बध कराया जाना उसकी अदूरदर्शिता ;तथा निम्नकोटि की मनोवृत्तियों का परिचायक है। यह जघन्यतम कार्य उसकी मानसिक शान्ति को दूर कर देता है और पाप का घड़ा आप से आप फूटना चाहता है। पाप सर पर चढ़कर बोलने लगता है। पाप ने प्रसेनजित् के हृदय को मथ डाला, वह स्वयं मल्लिका से जाकर कहने लगता है—'नहीं—मैंने अपराध किया है। सेनापति बन्धुल के प्रति मेरा हृदय शुद्ध नहीं था—इसलिए उनकी हत्या का पाप मुझे भी लगता है।' युद्ध में वह शंकित शासक पराजय का पक्ष ग्रहण करता है तब वह अपने

पापाचरण को शुद्ध कर डालने के लिए मल्लिका की शरण में बड़े अधीर भाव से जाता है। वह मल्लिका का पैर पकड़ता है और मुक्तकंठ से अपने कुकर्म का प्रायश्चित् करने के लिए कहता है— 'देवि ! मैं स्वीकार करता हूँ कि महात्मा बन्धुल के साथ मैंने घोर अन्याय किया है। और, आपने क्षमा करके मुझे कठोर दंड दिया है, हृदय में इसकी बड़ी ज्वाला है। देवि ! एक अभिशाप तो दे दो, जिससे नरक की ज्वाला शान्त हो जाय और पापी प्राण निकलने में सुख पावे।' प्रसेनजित् बार-बार मल्लिका से क्षमा की भीख मांगता है फिर भी उसका हृदय सन्तोष नहीं पाता। इस ग्लानि-प्रदर्शन को बार-बार देखते पाठकों के हृदय में उसके प्रति क्षोभ की भावना अल्पमात्रा में हो जाती है। अन्त में मल्लिका के कहने से वह शक्तिमती और विरुद्धक को फिर से अपने-अपने पदों पर प्रतिष्ठित करता है। प्रसेनजित् पर गौतम के व्यक्तित्व का भी विशेष प्रभाव है और उनके आदेशानुसार वह 'त्याज्य-पुत्र' विरुद्धक को पुनः उत्तराधिकारी बना देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसेनजित् हृदयहीन व्यक्ति नहीं है बल्कि उसमें पिता-हृदय का मृदुल प्यार भी है जिसके कारण वह क्षमाशील और पाप-स्वीकृति में उदार है।

प्रसेनजित् अपनी बहन वासवी के प्रति असीम श्रद्धा रखता है। उसके प्रति वह शुद्ध हृदय से अनुराग और सहानुभूति रखता है। वह अजातशत्रु की निरंकुशता तथा दमन का समाचार सुनकर अपनी बहन वासवी की सहायता करता है। वह आत्म प्रेरणा से उसके जीवन, निर्वाह के लिए काशी की आय उन्हें देने

की आज्ञा देता है। बासवी के कहने पर ही अजातशत्रु को वन्दी गृह से वह मुक्ति दे देता तथा अपनी पुत्री का प्रणय सूत्र अजातशत्रु से बाँध देता है। इस प्रकार प्रसेनजित ने राजनीतिक दूरदर्शिता का प्रदर्शन किया जो शत्रुता एवं द्वेष मिटा देने के लिए एक आवश्यक तत्व था। अंत में उसका जीवन शान्तिमय एंव मंगलमय हो जाता है।

———

उदयन

उदयन कौशाम्बी का राजा है। वह एक विलासी शासक है। वह सुरा, संगीत और सुन्दरियों के मध्य रह कर अपना जीवन यापन करता है। वह दो विवाह कर चुका है, पर इसके बाद भी मागन्धी के रूप और यौवन पर आसक्त होकर इस दरिद्र कन्या से विवाह करता है। उसके आगमन के उपरान्त उदयन की सद्‌बुद्धि मारी जाती है क्योंकि उसकी जवानी पर वह अपने आप को न्यौछावर कर चुका है। मंझली रानी पद्‌मावती के मन्दिर में गौतम का संघ वना जहाँ उदयन प्रतिदिन आकर उनके उपदेशों को सुनता है। वह उनके उपदेशों से पूर्णतय प्रभावित हो जाता है और उन्हें कौशाम्बी राज्य में धर्म-प्रचार करने का अनुरोध करने लगता है। वह भी उनके

उपदेशों से प्रभावित होकर सुरा नहीं पान करने का निश्चय करता है और इस विचार को मागन्धी के सम्मुख प्रस्तुत भी करता है मागन्धी उसके सत्संकल्प को तोड़ देती है और वह उसके प्रेम-पूर्ण अनुरोध को स्वीकार कर लेता है क्योंकि वह तो उसके रूप सौन्दर्य पर पतंग-सा जल रहा है। मागन्धी जैसे ही अर्चना के स्वर में कहती है—'मैं प्रार्थना करती हूँ, अपने हृदय को इस हाला से तृप्त कीजिये। अपराध क्षमा हो! मैं दरिद्र कन्या हूँ। मुझे आपके पाने पर और किसी की अभिलाषा नहीं है'। वैसे ही उदयन कह उठता है—'हूँ, अच्छा देखा जायगा। (मुग्ध होकर) उठो मागन्धी, उठो! मुझे अपने हाथों से अपना प्रेम-पूर्ण पात्र शीघ्र पिलाओ, फिर कोई बात होगी।' (मागन्धी मदिरा पिलाती है)। इस प्रकार हम देखते हैं कि मदिरा-पान-निषेध का उपदेश मागन्धी के सामने वह भूल जाता है। इसका एक मात्र कारण यह है कि उसमें स्वतंत्र होकर सोचने की प्रवृत्ति का नितान्त अभाव है और न वह अपने विचारों पर अटल रह सकता है।

इसी अवसर पर मागन्धी प्रेमपूर्ण-संभाषण के बीच उदयन को उत्तेजित करती है। उसके संकेत पर वह पद्मावती और गौतम के प्रति शंकित होता है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए मागन्धी हस्तिस्कंध वीणा मँगवाती है, जिसके अन्दर से साँप का बच्चा निकल पड़ता है—मागन्धी चिल्ला उठती है। इस पर विलासी उदयन को यह विश्वास हो जाता है कि सचमुच पद्मावती उसका प्राण लेने पर तुली हुई है। वह इस संबंध में विचार

नहीं कर पाता है क्योंकि उसकी बुद्धि में स्वतंत्र-विचार करने की शक्ति का अभाव है। अब वह पद्मावती के प्राणों का शत्रु बन जाता है और उसके द्वार न्यस्त प्रत्येक कार्य को शंका की दृष्टि से देखता है। वह अपनी पत्नी पद्मावती के पाखंडपूर्ण आचरण' का प्रतिशोध लेने को प्रस्तुत हो जाता है। पद्मावती के महल में एक झरोखा है। वह उसी झरोखे से करुणानिधान गौतम की वन्दना करती है। इस दृश्य को देखकर उदयन समझता है कि गौतम के प्रति पद्मावती की यह बन्दना वासनामय प्रेम का सूचक है और वह अपने सन्देह को सबल मानता है। वह क्षुब्ध होकर कह उठता है पापीयसी, देख ले, ये तेरे हृदय का विष-तेरी वासना का निष्कर्ष जा रहा है। इसीलिये न यह नया झरोखा बना है।' वह क्रोध के अधिकार में आकर पद्मावती की हत्या करने को प्रस्तुत होता है पर, सती का तेज और सत्य का शासन' विजय का पक्ष ग्रहण करता है। उसका उठा हुआ हाथ पद्मावती के सत्य के कारण नीचे नहीं आ पाता है। मागन्धी द्वारा निर्मित षडयंत्र का रहस्य खुल जाता है और तब उदयन अपराध को क्षमा कर देने की भीख मांगने के लिए पद्मावती के चरणों पर प्रणत होता है।

नाटक में उदयन का चरित्रांकन एक रसिक शासक के रूप में हुआ है। उसके जीवन में गति नहीं है और न कोई व्यापार। वह सेना लेकर प्रसेनजित के साथ मगध पर आक्रमण करता है और विजयी होता है।

नाटक की मूल कथा से उदयन का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। नाटक में जो कुछ भी उसका महत्व है, वह पद्मावती के कारण ही। नाटककार ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि सभी जगह गौतम का प्रभाव है और उसीसे अनुप्राणित भावना न्याय का पक्ष ग्रहण करती है। अस्तु, नाटककार अपनी उद्देश्य-प्राप्ति में बिल्कुल सफल है।

गौतम

महात्मा गौतम बुद्ध इस नाटक के महात्मा—पात्र हैं। वे इस कोटि के महात्मा हैं 'जिनके जीवन का ध्येय संसार में रहकर विश्व-कल्याण करने का है। ये महात्मा संसार में विचरण कर, गृहस्थों के संपर्क में आकर जहाँ पर जिस प्रकार हो सकता है अपने ज्ञान-विज्ञान, सेवा-साधना से, उपदेश देकर समयानुसार मानव-कल्याण किया करते हैं'। उनके जीवन का एकमात्र धर्म है—कर्त्तव्य पालन और सत्कर्म। गौतम का व्यक्तित्व करुणा, अहिंसा और विश्वमैत्री का प्रतीक है। इसके व्यक्तित्व का प्रभाव सर्वत्र है। वे मानवी करुणा का उपदेश देते हुए सदैव भ्रमण करते रहते हैं। वे 'हिंसा से रंगी हुई वसुन्धरा' को अपने 'चरणों के स्पर्श से स्वच्छ कर' 'उसकी कलंक कालिमा' को धोने की चेष्टा में सदैव लगे

रहते है। उनका कथन है कि 'विश्व भर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है, जो प्राणिमात्र में समदृष्टि रखती है'। वे विश्व-बन्धुता और शान्ति-स्थापना के लिए सदाचार को ही आधार-शिला मानते हैं। महत्वाकांक्षिणी माता छलना ने गृह-विग्रह कीअग्नि जलायी थी जिसमें जलकर सारा परिवार राख का ढेर बन जाता पर भगवन् की शान्तिवाणी की धारा जो प्रलय की नरकाग्नि को भी बुझा देने की शक्ति रखती है, उसी वाणी ने उसे बुझा कर शान्त किया। 'गृह-विवाद और आन्तरिक झगड़ों से विश्राम लेने के लिए' गौतम ने बिम्बसार को वानप्रस्थ आश्रम का जीवन ग्रहण करने का उपदेश दिया और अजात को राज्य - सिंहासन देने की व्यवस्था की। इससे स्पष्ट होता है कि गौतम शान्ति के अग्रदूत हैं।

गौतम के उपदेश हृदय की निर्मल भावना है। उनके संदेश सिर्फ कोरे उपदेश ही नहीं हैं बल्कि वे सब व्यावहारिक जीवन की वस्तु है। राजा बिम्बसार छोटी रानी छलना के अविचार एवं कुटिल व्यवहार से क्षुब्ध हो व्यंग्य कसते हुए कहते हैं—'हाँ छलने! तुम जा सकती हो। किन्तु कुणीक को न ले जाना-क्योंकि तुम्हारा मार्ग टेढ़ा है'। गौतम व्यंग्य को संसार भर की अशान्ति का जड़ मानते हैं क्योंकि यह हृदय में जितना चुभ जाता है उतना कटार भी नहीं। उनका कथन है कि मधुर व्यवहार से जंगल के पशु भी अधिकार में आ जाते हैं और विश्वमैत्री का पथ प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—'शीतल वाणी—मधुर व्यवहार से क्या पशु भी वश में नहीं हो जाते? राजन्, संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यंग्य है। वाक्य-संयम विश्व-मैत्री की पहिली

सीढ़ी है'। सुतरां, हम देखते हैं कि उनके उपदेशों में भी करुणा की अन्तर्धारा प्रवाहित होती है।

गौतम का प्रभाव राजा-महाराजाओं पर काफी है, परन्तु उनके सिद्धान्तों का नहीं वरन् व्यक्तिगत आचरणों का। अन्तःपुरों में 'उनका संघ निर्मित होता था और वे उपदेश देते थे'। उनकी दिव्य ज्योति ही स्वतः सब की आंखों को आकृष्ट कर रही है। वे 'शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म' करने के समर्थक हैं और उसकी पुष्टि अपने व्यक्तिगत आचरण द्वारा करते हैं। मागन्धी गौतम पर आसक्त हैं और उन्हें अपने प्रेम-पाश में आबद्ध करना चाहती है, पर असफल होती है। इसके उपरान्त उनके विरुद्ध षड़यंत्र रचती है, पर जब वही मागन्धी विरुद्धक द्वारा मार दी जाती है तब गौतम उसे पुनः जीवित करते हैं। इस प्रकार समाज में उनका प्रभाव बढ़ जाता है। उनके व्यक्तित्व की प्रभविष्णुता देख कर 'ईर्ष्या की पट्टी आँखों पर चढ़ाने के कारण' देवदत्त ने उनसे प्रतिद्वन्द्विता मोल ली। उसने 'तथागत को कलंकित और अपमानित करने के लिए कौन-से उपाय नहीं किये' पर उनमें चारित्र्य-बल और आत्म-दृढ़ता इतनी महान है कि वे अपने कर्त्तव्य-पथ से इधर-उधर न हो सके। वे अपने कर्त्तव्य के सामने लोकनिन्दा तथा विरोध की चिन्ता नहीं करते हैं। यह उनके चरित्र की आत्म-दृढ़ता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा का परिचायक है। वे अपने शत्रुओं के प्रति उदासीन हैं क्योंकि कर्त्तव्य ही उनके जीवन का अंतिम लक्ष्य है। इसीलिए वे देवदत्त के मलिन कार्यों की ओर अपनी दृष्टि नहीं दौड़ाते हैं क्योंकि 'दूसरे के मलिन कर्मों के विचारने से भी

चित्त पर मलिन छाया पड़ती है'। वे मानवता के पुजारी हैं, न कि दानवता के।

नाटक की सारी घटनायें उनके व्यक्तित्व में जाकर समाहित हो गई हैं। उनको व्यक्तित्व का प्रभाव सभी पर है। गौतम के विरोधी भी अपनी गलती महसूस करते हैं और उनकी शरण में आते हैं तथा उनके उपदेशों को अङ्गीकृत कर अपना जीवन सार्थक मानते हैं। गौतम की शीतल वाणी तथा शान्तिमय व्यवहारों से अजातशत्रु, छलना, विरुद्धक, शक्तिमती, मागन्धी आदि का हृदय-परिवर्तन होता है। उनके असत् हृदय सत् बन जाते हैं। उनके सदुपदेश से वासनामयी प्रवृत्तियां दूर हो जाती हैं। उनके सिद्धान्तों का कुछ अंश विम्बसार, वासवी, मल्लिका, पद्मावती आदि पात्रों में दृष्टिगत होता है। अतः हम देखते हैं कि महात्मा बुद्ध सर्व-गुण-सम्पन्न हैं।

देवदत्त

प्रस्तुत नाटक का खल पात्र देवदत्त है। वह महात्मा गौतम का प्रतिद्वन्द्वी है। इस प्रतिद्वन्द्विता के कारण ही वह राज-परिवार की राजनीति में हाथ बँटाता है। वह असद् प्रवृत्तिपोषक महात्मा है जिसने 'संघभेद करके जिस प्रकार नियम तोड़ा है उसी प्रकार राष्ट्रभेद करके देश का नाश करना चाहता है'। वह मनोविकार ग्रस्त एवं कुचक्री है। वह दुर्विनीत कुणीक और महत्वाकांक्षिणी छलना के हृदय में बिम्बसार और वासवी के प्रति द्वेष की भावना को प्रस्फुटित करता है तथा इस प्रकार मगध के राज-परिवार में गृह-विग्रह की आग लगाता है। अंत में वह सफलीभूत होता है। उसकी आज्ञा के अनुसार अजातशत्रु अपने माता-पिता पर प्रतिबन्ध बैठा देता है।

देवदत्त की जो प्रतिद्वन्द्विता गौतम से है वह धार्मिक क्षेत्र में नहीं बल्कि उनकी प्रभविष्णुता के कारण ही। वह महत्वाकांक्षी है और धर्मगुरु के रूप में समस्त जम्बूद्वीप का शासक बनना चाहता है। देवदत्त महात्मा गौतम की प्रशंसा सुनने को तैयार नहीं है क्योंकि उसमें परकीर्ति-असहिष्णुता की प्रवृत्ति ही बलवती है। अजातशत्रु की राज्य-प्राप्ति के संबंध में जब समुद्रदत्त यह कहता है कि 'गौतम यदि न चाहते तो यह काम सरलता से न हो सकता', तो देवदत्त उसकी उक्ति का विरोध करते हुए कहता है—'फिर उसी ढकोसलेवाले ढोंगी की प्रशंसा! अरे समुद्र,

यदि मैं इसकी चेष्टा न करता तो यह सब कुछ न होता।' इस प्रकार हम देखते हैं कि वह लोक का उपकार नहीं करता है बल्कि उसके आंचल में अपनी उन्नत्ति का इच्छुक है। अपनी आत्मोन्नत्ति के लिए उचित-अनुचित दोनों पलों को पकड़ता है। वह अपने कार्य्य की सिद्धि के लिए अजातशत्रु को अस्त्र बनाता है और जब-तक युद्ध, हिंसा आदि कार्य न्यस्त करने को प्रेरित करता रहता है। वह यह समझता है कि अजातशत्रु उसके हाथ का खिलौना है और वह जब चाहे तब नचावे।

देवदत्त द्वारा उत्तेजित किए जाने पर अजात प्रथमबार प्रसेनजित के राज्य पर आक्रमण करता है। उसे जीत मिलती है पर उसका हृदय-परिवर्तन हो गया है। सुतरां अब वह देवदत्त के कार्य-साधन का अस्त्र नहीं रह पाता है। उसकी समस्त अभिलाषायें टूक-टूक हो जाती हैं। अन्त में वह स्वयं गौतम पर प्रहार करने को तैयार होता है जो उसकी नीच प्रवृत्ति का द्योतक है। इस कार्य में भी उसको सफलता नहीं मिलती है और गौतम के निकट पहुंचने के पूर्व ही उसके जीवन का अन्तिम पर्दा सर्वदा के लिए गिर जाता है।

देवदत्त में असद्प्रवृत्तियों की प्रधानता है और उसका चरित्र-अङ्कन बड़ी स्वाभाविकता से प्रदर्शित हुआ है।

समुद्रदत्त

समुद्रगुप्त आचार्य देवदत्त का शिष्य है। वह अपने गुरु की आज्ञा के अनुसार ही अपना कार्य न्यस्त करता है। वह अजातशत्रु की क्रूरता में प्रगति देने के लिए घी का काम करता है। लुब्धकद्वारा मृगशावक न लाये जानेपर अजात उसकी चमड़ी उधेड़ने पर तुला है। समुद्रदत्त ऐसी परिस्थिति में उदंड कुणीक के रोष को आन्दोलित करता हुआ कहता है—लीजिये! इसकी अच्छी पूजा कीजिये।' वह एक चाटुकार के रूप में अजातशत्रु के साथ है। यों तो वह राजकुमार के साथ रहता अवश्य है, पर उसके उद्धत स्वभाव से वह शंकित रहता है इसीलिए वह युवराज के साथ निडर हो कर नहीं रहता है।

समुद्रदत्त अपने आचार्य देवदत्त की तरह दूरदर्शी एवं कूटनीतिज्ञ नहीं है। वह बिम्बसार पर प्रतिबन्ध बैठाने वाले प्रस्ताव इतनी भद्दी तरह से प्रस्तुत करता है कि परिषद के लोग 'अनर्थ है, अन्याय है' कहने लगते हैं पर देवदत्त परिषद की नब्ज को पहचान कर आत्म कौशल द्वारा परिषद से स्वीकार करवा देता है। समुद्रदत्त ने तो एक विषम परिस्थिति का निर्माण कर डाला था, पर देवदत्त ने ठीक कर डाला।

समुद्रदत्त षड्यन्त्र रचना के उद्देश्य से काशी आया। वह यहाँ दो-चार अन्तरंग मित्र बनाना चाहा, पर वारविलासिनी श्यामा (मागन्धी) के आज्ञानुसार वह काशी के दंड नायक के

पास जाने को तैयार होता है, जो उसकी मूर्खता का परिचायक है। अन्त में वह वहाँ जाता है और उसके जीवन की लीला का अवसान होता है। वस्तुतः उसके जीवन का यह अन्त सभी को स्वाभाविक तथा उचित दृष्टिगत होता है क्योंकि वह कुटिल प्रकृति का मनुष्य था।



बन्धुल

बन्धुल कोशल का कुशल सेनापति है। वह वीर, पराक्रमी, साहसी, रणकुशल एवं स्वामीभक्त है। वह इतना वीर है कि 'हिमालय का सीमाप्रान्त बर्बर लिच्छिवियों के रक्त से और भी ठंडा कर दिया गया है'। वह अकेले ही पावा सरोवर की रक्षा करनेवाले पाँच सौ मल्लों को पराजित करता है। उसके अधिनायकत्व में कोशल में 'शान्ति स्वयं पहरा दे रही है' अब विद्रोह का भी नाम नहीं है।

बन्धुल वीर तो है ही, पर उसकी प्रकृति भी वीर होने के साथ साथ सरल है। वह वापस आता है। उसकी नम्रता तथा सजीवता देखकर कोशलनरेश प्रसेनजित् के हृदय को गर्व होता है और उसके विजय के लिए स्मरण-चिन्ह देते हैं। पर सब लोग 'बन्धुल की जय' कह उठते हैं। इससे उसका हृदय शंकित हो

उठता है और वे चौंक उठते हैं। वह बन्धुल के बढ़ते हुए प्रभाव को ईर्ष्या की आँखों से देखने लगता है। बन्धुल से उसे डर होता है और वह काशी का सामन्त बना कर भेजा जाता है। बन्धुल इससे प्रसन्न नहीं है। उसे तो 'सरल और सैनिक जीवन ही रुचिकर है'। वह यह अनुभव करता है कि 'यह सामन्त का आडम्बरपूर्ण पद कपटाचरण की सूचना देता है'। फिर भी वह स्वामीभक्त है और उनकी आज्ञा उसके लिए शिरोधार्य है। वह अपनी स्वामीभक्ति को कलंकित नहीं करता।

बन्धुल में युद्ध-शौर्य है, परन्तु इसके साथ साथ उसमें सच्चाई भी है। उसकी स्वामीभक्ति को विरुद्धक कसौटी पर कसता है और तपाये हुए सोने की भाँति दमकता है। वह विरुद्धक (शैलेन्द्र) से नहीं मिलता है बल्कि द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारता है। वह स्वमीभक्त है, कभी भी प्रलोभनों के चक्र में नहीं पड़ा है और न उसमें प्रतिहिंसा का भाव अंकुरित हुआ है। स्वामीभक्ति से प्रेरित होने के कारण अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ रहता है। क्रूर बिरुद्धक द्वारा बन्धुल छलपूर्वक मारा जाता है।

सुतरां हम कह सकते हैं कि बन्धुल सरल प्रकृति का विश्वासी व्यक्ति था तथा इसके साथ वह स्वामीभक्त भी था।

जीवक

जीवक मगध-सम्राट का राजवैद्य है। वह बड़े जीवट का आदमी है। वह बड़ा स्वामीभक्त सेवक है। वह 'उच्छृंखल नवीन राजशक्ति का विरोधी हो कर' महाराज बिम्बसार की सेवा करना चाहता है क्योंकि वृद्ध स्वामी के प्रति उसके नश-नश में श्रद्धा और भक्ति है। उसका हृदय स्वच्छ है और अपने हृदय की बात महाराजा बिम्बसार से कहता है– 'यह जीवन अब आप ही की सेवा के लिए उत्सर्ग है'। वह देवदत्त और समुद्रदत्त की कुमंत्रणा से पूर्णतया परिचित है और उनकी दुर्नीति के लिए फटकारता हुआ कहता है—'संघभेद करके आपने नियम तोड़ा है; उसी तरह राष्ट्र-भेद करके क्या देश का नाश करना चाहते हैं? तुम लोगों की यह कूट मंत्रणा अच्छी तरह समझ रहा हूँ। इसका परिणाम कदापि अच्छा नहीं है'। अस्तु वह परिस्थितियों का अध्ययन कर महाराज की प्राणरक्षा के लिए चिंतित हो उठता है। वह अपने गार्हस्थ्य सुखों की तिलांजलि देने को प्रस्तुत हो जाता है।

जीवक एक राजवैद्य होने के साथ साथ सन्देशवाहक का कार्य भी करता है। वह एक राज्य का समाचार दूसरे राज्य में पहुँचाता है और दूसरे का तीसरे में, इस प्रकार वह इन स्थानों का समाचार लाकर बिम्बसार को सुनाता है। वह परिस्थितियों की सूचना बिना किसी दुराव-छिपावके बिम्बसार को देता है। उसका एक मात्र अभीष्ट है कि अपने वृद्ध स्वामी बिम्बसार को सम्पूर्ण

परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान करा दे। वह दूत का कार्य बहुत ही सुन्दर ढंग से व्यस्त करता है। वह जीवन के अनुभव तथा व्यवहार से पूर्ण भिज्ञ है, इसीलिए वह संबाद क कथन में संयम, बुद्धि तथा वाक्यपटुता का आश्रय ग्रहण करता है। वस्तुतः वह सन्देशवाहक का कार्य बहुत सुन्दर ढंग से करता हैं। यही है उसके जीवन की सफलता।



वासवी

वासवी मगध-सम्राट विम्बसार की बड़ी रानी है। उसके चरित्र में पतिप्रेम और सहृदयता है। उस पर गौतम बुद्ध की करुणा का पूर्ण प्रभाव है। वह भारतीय नारी का आदर्श है। उसके चरित्र में स्त्री-सुलभ कोमलता, स्निग्धता एवं सहिष्णुता है, इसीका व्यक्तिकरण पग-पग पर हुआ है। प्रसाद जी ने वासवी के चरित्र का निर्माण छलना की चारित्र्य-प्रतिद्वंद्विता में किया। वासवी अपनी सौत के पुत्र अजातशत्रु को भी स्वजात पुत्रवत् मानती हैं। उसके हृदय में अपने पराये का भाव विद्यमान नहीं है क्योंकि उस पर गौतम बुद्ध के उपदेशों का बहुत प्रभाव है। उसका तो कथन ही है कि 'पद्मा तो जैसी मेरी वैसी ही तुम्हारी, उसे कहने का तुम्हें अधिकार है।' पर छलना यह

सूचित करती है कि उसका पुत्र अजातशत्रु वासवी के महल में नहीं जायगा तो इसके हृदय को चोट पहुँचेगी और उसी क्षण यह अनुभव करती है कि छलना गृह-विग्रह की अग्नि उभाड़ना चाहती है। यह जानते हुए भी वह छलना को कुछ नहीं कहती है क्योंकि उसमें सहिष्णुता कूट कूट कर भरी पड़ी है। वह जीवन के सच्चे सुख को प्राप्त करना चाहती है। छलना अजातशत्रु को राज्य गद्दी पर बैठे देखना चाहती है। इस मर्म को वासवी अच्छी तरह समझती है और गृह-विग्रह की आग से डरती भी है। गृह-विवाद और आंतरिक झगड़ों को अन्त करने के लिए वह छलना के इस कथन का समर्थन जोरदार शब्दों में करती है कि 'आप को कुणीक के राज्याभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी।' वैभव को त्याग कर वह अपने पति बिम्बसार के साथ एक निर्जन उपवन में जीवन यापन करती है। वह अपने पति की सेवा वहां भी करती है। उसके ऊपर प्रतिबन्ध बैठा दिया जाता है। फिर भी वह इससे घबड़ाती नहीं है। वह अपनी स्निग्ध एवं शीतल वाणी के द्वारा ही बिम्बिसार के जले हृदय को शान्त करती है। वह पति की इच्छा की पूर्त्ति के निमित्त अपने विलास की सभी वस्तुओं पर लात मारती है। पति-परायणा वासवी जब देखती है कि वैराग्य पूर्ण जीवन में भी उसके पति को याचकों का लौट जाना कष्ट दायक है तो वह उनकी पीड़ा को दूर करने के हेतु अपना रत्न जटित स्वर्ण कंकण सहर्ष देती हुई कहती है—'प्रभु! इन स्वर्ण और रत्नों का आंखों पर बड़ा रंग रहता है, जिससे मनुष्य अपना अस्थि-चर्म का शरीर तक नहीं देखने पाता।'

वह पति का अपमान होते नही देख सकती है क्योंकि बिम्बसार का अपमान खुल कर होता है ?' 'शत्रु से भी अधिक घृणित व्यवहार होता है, 'तब अजात की 'भिक्षावृत्ति पर अवलम्बन करने को हृदय नहीं कहता'। वह अपने पति की मान-मर्यादा के रक्षार्थ अपने पीहर से मिला काशी प्रान्त का राजस्व लाने का प्रयास करने लगती है। अस्तु, हम देखते हैं कि वासवी में धैर्य और संतोष है। इस काशी प्रान्त की आय के लिए प्रसेनजित्त और अजातशत्रु में युद्ध होता है। अजातशत्रु को विजय मिलती है, इसपर गर्वोन्नत छलना इस समाचार को वासवी के निकट लेकर आती है और व्यंग्यमय स्वरों में कहती है—"किन्तु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और सन्देश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार का लक्ष्य न रखता न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता'। इस कथन से बिम्बसार उत्तेजित हो जाते हैं पर वासवी अपनी सहिष्णुता का परिचय इन पंक्तियों में देती है—'बहिन! जाओ, सिंहासन पर बैठकर राजकार्य्य देखो। व्यर्थ झगड़ने से तुम्हें क्या सुख मिलेगा? और अधिक तुम्हें क्या कहूँ; तुम्हारी बुद्धि!'

वासवी संतोष की प्रतिमा है; उसके समक्ष महत्त्वाकांक्षा और प्रमाद का कुछ भी स्थान नहीं है। उसमें मानव का सहज धर्म सन्निहित है। बासवी समय-समय पर संयत और सहनशील दृष्टिगत होती है और वह भी विशेष कर उस स्थल पर जब वह बिम्बसार के उग्र-रूप को देखती है। उसकी नारी-भावना

अपनी मर्य्यादित आधारशिला पर स्थित है। अजातशत्रु कारागृह में बन्द हो गया है। इस समाचार को पाते ही पुत्र प्रेम से द्रवित हो उठती है। उसमें वात्सल्य की पुनीत धारा प्रवाहित हो उठती है और साथ-साथ पति-पुत्र के द्वन्द्व में फँस जाती है। अंत में वेवश होकर बिम्बसार की सेवा का भार अपनी सौत छलना पर छोड़ कोशल को प्रस्थान करती है। वहाँ पहुँचते ही वह अपने पुत्र को वन्दी-रूप में देखकर विचलित हो उठती है—'न न भाई! खोल दो। इसे मैं इस तरह देखकर बात नहीं कर सकती हूँ। मेरा बच्चा कुणीक···'। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वासवी में सिर्फ पति-प्रेम ही नहीं पुत्र-प्रेम भी है। वह शीघ्र ही अजातशत्रु को मुक्त करा देती है। अब छलना को अपने पूर्व-कर्मों पर पश्चाताप होता है और वह क्षमा-याचना करती है। यहां पर वासवी भी उसके विचार को परोक्ष रूप से समर्थन करती है और वह भी इन शब्दों में– 'आर्य्यपुत्र! अब मैंने उसको दण्ड दे दिया है, यह मातृत्व के पद से च्युत की गई है, अब इसको आपके पौत्र की धात्री का पद मिला है। एक राजमाता को इतना बड़ा दंड कम नहीं है; अब आपको क्षमा करना ही होगा'। इस पर बिम्बसार वासवी के हृदय की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहता है—'वासवी तुम मानवी हो या देवी!'

अंत में हम देखते हैं कि वासवी घर की चहारदीवारी के अन्दर स्नेह और शान्ति का श्रोत वहाती है।

—०◡०—

—: छलना :—

छलना मगध की राजमाता और बिम्बसार की छोटी रानी है। वह राजनीति की आग से खेलनेवाली महत्वाभिलाषिणी राजमहिषी है। इस 'लिच्छिवी कुमारी की काया बर्बरता, अनियंत्रित महात्वाकांक्षा, उद्भ्रान्त वात्सल्य, अकारण सापत्न्य-ज्वाला और निरीह भोलापन इन्हीं पाँच तत्वों से बनी है।' उसे नीरव अपमान, सांकेतिक घृणा, कुणीक का अपकार सह्य नहीं'। अस्तु पद्मावती और अजातशत्रु के तर्क-वितर्क में छलना हिंसा का पक्ष ग्रहण कर कुणीक को हिंसा करने की शिक्षा देती है। वह अहिंसा को भिक्षुकों की भद्दी सीख मानती है। उसका कथन है कि शासन के संचालन में हिंसा का बड़ा जबरदस्त हाथ है, इसके बिना वह न्याय का पक्ष नहीं रख सकता है। वह पद्मा और अजात के तर्क में खड़ा कर गृह-विग्रह की आग लगाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह अपने पुत्र को अविनय, क्रूरता एवं हिंसा की शिक्षा देती है। इसके अतिरिक्त वह चाहती है कि उसका पुत्र कुणीक 'भारत खंड का सम्राट हो' और वह वीर प्रसूति होकर 'गर्व से उससे चरण बन्दना करावे'। इस अभीष्ट-सिद्धि के लिए जीवन के पहले प्रभात में ही वह अजातशत्रु को हिंसा और क्रूरता करने की सीख देती है।

दूसरे ही क्षण वह मगध-सम्राट बिम्बसार के पास जाकर बड़े जोरदार शब्दों में अपने हृदय की अभिलाषा को प्रकट करती है—

'आपको कुणीक के युवराज्याभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी।' गौतम और वासवी की आज्ञा से बिम्बसार राज्य का बागडोर अजातशत्रु के कंधों पर लटका देते हैं और एक निर्जन उपवन में जीवन-यापन करते हैं। छलना द्वारा न्यस्त कार्य में देवदत्त का बहुत बड़ा हाथ रहा है क्योंकि 'लिच्छवी-कुमारी में इतना मनोबल कहां कि वह यों अड़ जाती'। छलना में जो उग्रता आई है, उसका एकमात्र कारण यह है कि उसके चरित्र पर कुटिल देवदत्त का पूर्ण प्रभाव है।

अब अजातशत्रु मगध का सम्राट है और छलना एक राजमाता। देवदत्त परामर्शदाता बन जाता है और अबतो मगध-सम्राट अजात और राजमाता छलना पर खूब प्रभाव है। उसी संकेत पर राज्य का कार्य चलता है। राज्य-शासन को हाथ में लेते ही अजातशत्रु क्रूर, बर्बर एवं निरकुंश बन जाता है और उसके द्वार पर से याचक लौट जाते हैं। छलना इसकी चिन्ता नहीं करती है पर बिम्बसार को खलता है। वासवी पीहर से पायी हुई काशी प्रान्त की आय को लेना चाहती है। इस पर छलना युद्ध का आयोजन करती है। अजातशत्रु की जीत होती है। वह थोड़ी-सी सफलता पाकर गर्व प्रदर्शित करने और अपने हृदय की प्रतिहिंसा को संतुष्ट करने के लिये वासवी के पास 'बवंडर' बन कर जाती है। इस पर वासवी व्यंग्य पूर्वक उससे किसी अनुचर को भेजने को कहती और ताना मारती हुई कहती है–'तब राजमाता को कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी'?। इस पर छलना स्वयं ही उपस्थित होने के कारण की ओर संकेत करती हुई कहती है—

'किन्तु वह तो मेरी जगह नहीं हो सकता था और संदेश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।' इस उक्ति से स्पष्ट होता है कि छलना एक ओछी प्रकृति की नारी है। उपयुक्त कथन का प्रत्येक शब्द उसकी कुटिलता, क्षुद्रता एवं क्रूरता को प्रकट कर रहा है।

द्वितीय बार अजातशत्रु और प्रसेनजित् में फिर युद्ध होता है। इस बार अजातशत्रु पराजय का पक्ष ग्रहण करता है और बन्दी हो जाता है। पुत्र के बन्दी हो जाने के उपरान्त छलना को यह ज्ञान होता है कि इस पराजय का मूल कारण देवत्त ही है क्योंकि उसीने तो 'धर्म के नाम पर उत्तेजित' किया। अब छलना उसके साथ उलझ जाती है और देवदत्त इस पराजय की सफाई के लिए तर्क पेश करता है कि 'तेरी राज्यलिप्सा और महत्वाकांक्षा ने ही तुझसे सब कुछ कराया, तू दूसरे पर क्यों दोषारोपण करती है, मुझे ही राज्य भोगना है?' छलना इस पर विचार-विनिमय नहीं करती है और देवदत्त को बन्दी बनाती है। उसे इस मुड़िये के अभिशाप का भी भय नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उसके चरित्र में काफी दृढ़ता है।

देवदत्त को बन्दी बनाकर वह भूखी सिंहनी की तरह बासवी पर टूट पड़ती है और ललकार कर कहती है—'मीठे मुँह की डाइन! अबतेरी बातों से मैं ठंढी नहीं होने की। ओह! इतना साहस, इतनी कूट चातुरी! आज मैं उसी हृदय को निकाल लूँगी, जिसमें यह सब भरा था। वासवी; सावधान!

मैं भूखी सिंहनी हो रही हूँ'। इस कथन से स्पष्ट होता है कि उसकी नीचता अंतिम सीढ़ी पर पहुँच गई है। इस पर वासवी कहती है कि उसे एक बार कोशल को प्रस्थान करना पड़ेगा तब इस कथन को छलना एक चाल समझती है और गर्व से प्रत्युत्तर देती है—'यह और भी अच्छी रही—जो हाथ का है उसे भी जाने दूँ ? क्यों वासवी ! पद्मावती को पढ़ा रही हो ?'

परन्तु वासवी के सत्य एवं सद्भाव से छलना का अन्तरपट खुलता है और उसकी प्रतिहिंसा की अग्नि आप से आप शान्त हो जाती है। उसकी आंख का परदा खुलता है और अपने वास्तविक अस्तित्व का अनुभव वह स्वंय करती है। वह कुणीक की भीख माँगती है। वासवी के व्यक्तित्व से उसे आत्मबोध होता है। अजातशत्रु वन्दी गृह से मुक्त हो जाता है। वापस आकर अजात क्षमा याचना करता है। अपने पुत्र के साथ वह बिम्बसार और वासवी दोनों से क्षमा मांगती है। अब उसके चरित्र में परिवर्त्तन आ जाता है।

श्री. शिखरचन्द जैन ने लिखा है कि 'छलना के हृदय में पतिद्वेष नहीं था, उसके प्रति अनादर का या कोई अन्य बुरा भाव भी नहीं था। उसमें था तो केवल अपने पुत्र के लिये अतीव मोह-ममता। छलना की समता कैकेई के चरित्र से की जा सकती है'।[१] इस संबंध में प्रो० केशरी कुमार के शब्दों में कह सकते हैं कि छलना बौधकाल की कैकेई है। कैकेई ने भरत के लिए राजमुकुट माँगा और छलना ने कुणीक का राज्याभिषेक चाहा। उधर राम को निर्वासन मिला, इधर बिम्बसार को वाणप्रस्थ जीवन।[१]इस कांड के अन्त में अवधपुर

चैन नहीं। वह गौतम से प्रतिशोध लेने को तैयार होती है और निश्चय करती है—'दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं'। इसी भावना से प्रेरित होकर षड्यंत्र रचती है जिसके कारण 'उसे कई घाटों का पानी पीना पड़ा है'। 'सुन्दरी स्त्रियाँ भी संसार में अपना अस्तित्व रखती हैं' इसी दंभ को लेकर वह कपटाचरण करती है। वह अपनी दासी नवीना को साथ लेकर पद्मावती के प्रति राजा उदयन के हृदय में शंका का बीज वपन करती है और पूर्व निश्चित षड्यंत्र के अनुसार पद्मावती के महल से मँगाई हुई हस्तिस्कन्ध वीणा से सांप का बच्चा निकलवाकर यह प्रमाणित करती है कि पद्मावती और गौतम में अनुचित सम्बन्ध है। इतना ही नहीं पद्मावती गौतम को चाहती है और उनका उपदेश सुनने के बहाने उन्हें अपने महल में किसी दूसरे उद्देश्य से रखे हुए है। मागन्धी उदयन का हृदय पद्मावती की ओर से फेर देती है। उदयन उसे दंड देने का निश्चय करता है और मागन्धी अपने कार्य में अल्पकाल के लिए सफल होती है। कुछ समय के लिए मागन्धी का छल काम कर जाता है, पर सौभाग्य से षडयंत्र का उद्घाटन हो जाता है और वह विहारकक्ष में आग लगा कर भाग जाती है। इस प्रकार हम देखते है कि मागन्धी के चरित्र में साहस और दृढ़ता है।

पर अब अपनी असफलता के कारण वह विवश होकर श्यामा नामक काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी बनी। उसे 'धन की कमी नहीं, मान का कुछ ठिकाना नहीं', सिर्फ 'सापत्न्य ज्वाला की पीड़ा' है। 'जीवन की कृत्रिमता में दिन-रात प्रेम का वनिज

करते करते उसके हृदय का 'प्राकृतिक स्नेह का स्त्रोत' सूखता चला जा रहा है। वह इस जीवन से ऊब गई है। उसके हृदय में वासना ने आकर अपना डेरा डाल दिया है। साहसिका श्यामा शैलेन्द्र पर रीझ जाती है। वह उसी की अनुरक्ता है। भयंकर रात्रि में वह अपनी अतृप्त वासना लेकर उससे मिलने जाती है और कहती है—शैलेन्द्र लो, यह अपनी नुकीली कटार, इस तड़पते हुए कलेजे में भोंक दो!'। वह अपने प्रेममय रमणीत्व की दुहाई देकर शैलेन्द्र से प्रणय-भिक्षा माँगती है। वह शैलेन्द्र को अपनाना चाहती है। शैलेन्द्र द्वन्द्व युद्ध में बन्दी हो गया है। वह शैलेन्द्र को मुक्त करना चाहती है। वह इस कार्य को व्यस्त करने के लिए निश्चयपूर्ण शब्दों में कहती है—'मैं उसी श्यामा की तरह, जो स्वतंत्र है राजमहल की परतंत्रता से बाहर आई हूँ। हँसूँगी और हँसाऊँगी, रोऊँगी और रुलाऊँगी। फूल की तरह आई हूँ, परिमल की तरह चली जाऊँगी। स्वप्न की चंद्रिका में मलयानिल की सेज पर खेलूँगी। फूलों की धूल में अंगराग बनाऊँगी, चाहे इसमें कितनी ही कलियों को क्यों न कुचलना पड़े। चाहे कितनों ही के प्राण जायँ मुझे कुछ चिन्ता नहीं! कुम्हला कर फूलों को कुचल देने में ही सुख है'। अस्तु, इसी समय उसके अजिर में समुद्रगुप्त का आगमन होता है। श्यामा अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिय हिंसा और अग्निकुंड की परवाह नहीं करती है और वह अपने प्रेम को स्थायी बनाये रखने के लिए समुद्रदत्त को 'बलि का बकरा' बना दंडनायक के पास भेज देती है। शैलेन्द्र मुक्त होकर लौट आता है। अब श्यामा उससे प्रणय की भिक्षा माँगने को प्रस्तुत हो उठी पर उसके बदले उसे विश्वासघात मिला। प्रणय के नाम

पर उसकी हत्या करने के लिए जहर पिलायी गई और वह एक विहार के पास फेंक दी जाती है। जिस प्रकार 'राम के पद-स्पर्श से पत्थर से अहल्या फूट निकली थी', उसी प्रकार 'गौतम के कर-स्पर्श से श्यामा का शव बोल उठा'। इसके अनन्तर वह अपने विगत जीवन का स्मरण करती है और उसे पश्चाताप होता है। 'वह अपने कलंकी जीवन से विरक्त हो उठती है और 'मल्लिका की शान्तिदायिनी छाया में विश्राम लेती है'। शैलेन्द्र अब प्रणय-दान चाहता है, पर वह उसे लौटा देती है। वह स्वयं अपने जीवन के उत्कर्ष-अपकर्ष का विवेचन करती है—'वाहरी नियति ! कैसे कैसे दृश्य देखने में आये—कभी बैलों को चारा देते-देते हाथ नहीं थकते थे, कभी अपने हाथ से जल का पात्र तक उठा कर पीने से संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलने में रोकता था, और कभी निर्लज्ज गणिका का आमोद मनोनीत हुआ ! इस बुद्धिमता का क्या ठिकाना है ! वास्तविक रूप के परिवर्तन की इच्छा मुझे इतनी विषमता में ले आई ! अपनी परिस्थिति को संयत रखकर व्यर्थ महत्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख-लिप्सा ही में पड़ी—उसी का यह परिणाम है। स्त्री-सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्र कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गए ! जो अब केवल एक संकोचदायिनी स्मृति के रूप में अवशिष्ट रह गए'। गौतम के शब्दों में अब वह 'अग्नि के तपे हुए हेम की तरह शुद्ध हो गई हैं'। मागन्धी ने अपने जीवन के प्रथम वेग में ही गौतम को पाने का प्रयास किया था किन्तु वह समय ठीक भी नहीं था। आज वह अपनी आत्मा की शान्ति उन्हीं की छाया में प्राप्त कर रही है और

मागन्धी ने भी यहीं पर गौतम से प्रभावित होकर 'देवत्व' न प्राप्त कर 'नारीत्व' प्राप्त किया है। यही सबसे बड़ी विशेषता है—मागन्धी के चरित्र की।

अस्तु, अब तक हमने मागन्धी को तीन रूपों में देखा और वह है—महारानी का रूप, वेश्या का रूप और आम्रपाली का रूप। 'ये तीनों रूप मानो उस के जीवन-नाटक के तीन अंक हैं'। बस!

———

—: मल्लिका :—

मल्लिका सेनापति बन्धुल की पत्नी है। वह पतिपरायणा एवं आदर्श रमणी है। उसे अपने वीर पति के साहसिक कार्यों पर गर्व है—'वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयानक ज्वाला हैं, और वीरता के वरेण्य दूत हैं। मुझे विश्वास है कि संमुख युद्ध में शक्र भी उनके प्रचण्ड आघातों को रोकने में असमर्थ हैं'। उसमें पत्नीत्व का दिव्य रूप दृष्टिगत होता है। वह पति को प्यार करती है। उसके हृदय में पति के प्रति श्रद्धाभाव एवं अनुराग है। वह अपने पति को सुहाग की वस्तु मानती है फिर भी यह स्वीकार करती है कि उनका व्यक्तित्व है। उसकी पति-परायणता वासना-युक्त नहीं है वलिक उससे वह मुक्त है। वह अपने ऐहिक सुखों को

महत्व प्रदान नहीं करती है बल्कि उसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य की बहुत ही निर्मल भावना है—'महान हृदय को केवल विलास की मदिरा पिलाकर मोह लेना ही (उसका) कर्त्तव्य नहीं है'। जहाँ एक ओर उसके हृदय में निजी कर्त्तव्य का ज्ञान है वहाँ दूसरी ओर वह अपने पति को कर्त्तव्य से विरत करना नहीं चाहती है। यही कारण है कि वह अपने पति को कठोर कार्य न्यस्त करने में प्रेरणा प्रदान करती है। इस प्रकार मल्लिका के व्यक्तित्व में लोकहित की भावना अन्तर्भुक्त है। वह 'कठोर कर्मपथ में अपने स्वामी के पैर का कंटक नहीं होना चाहती', वह उसके अनुराग, सुहाग की वस्तु है। फिर भी बन्धुल का स्वतंत्र अस्तित्व है, जो शृंगार मंजूषा में बन्द करके नहीं रखा जा सकता। इसीलिए जब उसे यह विदित होता है कि प्रसेनजित् ने गुप्त रूप से बन्धुल की हत्या की योजना की है और वह उसे वापस बुला लेने की नेक सलाह देती है तब वह निर्भीक एवं दृढ़ होकर स्पष्ट शब्दों में कहती है—'रानी! बस करो। मैं प्राणनाथ को अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं करा सकती, और उनसे लौट आने का अनुरोध नहीं कर सकती। सेनापति का राजभक्त कुटुम्ब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा—जब तक कि स्वयं राजा, राष्ट्र का द्रोही न प्रमाणित हो जाय'। इन पंक्तियों से उसकी राज्यभक्ति-भावना टपकती है। यथार्थ में वह कर्त्तव्य पालन करने वाली आदर्श नारी है। 'उसे स्त्री-सुलभ समवेदना तथा कर्त्तव्य और धैर्य की शिक्षा मिली है'। इसीलिए उसने इन्हें पालन करने के लिए अपने जीवन का चरम अभीष्ट मान लिया है।

मल्लिका में उपकार करने की भावना भी अन्तर्व्याप्त है। प्रसेनजित् के कुचक्र एवं विरुद्धक के विश्वासघात से बन्धुल की हत्या होती है और मल्लिका सुहाग से वंचित हो जाती है। परन्तु उसमें प्रतिशोध तथा प्रतिहिंसा की भावना नहीं है क्योंकि उस पर भगवान अमिताभ के उपदेशों का अधिक प्रभाव पड़ा है। वह इस वैधव्य-दुःख, जो नारी-जाति का कठोर अभिशाप है-को सहन करने में समर्थ हो जाती है। इससे उसकी कष्ट-सहिष्णुता का अत्यन्त सुन्दर ज्ञान अर्जित हो जाता है। ऐसी विषम परिस्थिति में भी वह अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं होती है। वह कर्त्तव्य की उपेक्षा नही करती है क्योंकि इस दुःख में भगवान ही सान्त्वना दे सकते हैं, उन्हीं का अवलम्ब है। इस स्थिति में वह कर्त्तव्यपथ से च्युत नहीं होती है क्योंकि आतिथ्य परम धर्म्म है और कह उठती हैं—' मैं भी नारी हूँ, नारी के हृदय में जो हाहाकार होता है, वह मैं अनुभव कर रही हूँ। शरीर की धमनियाँ खिंचने लगती हैं। जी रो उठता है, तब भी कर्त्तव्य करना ही होगा'। सारिपुत्र और आनन्द का आगमन होता है और वैसे ही स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाती है। सारिपुत्र को उसके स्वामी के मारे जाने का समाचार मालूम है। वे मल्लिका के धैर्य एवं मूर्तिमती धर्म-परायणता की सराहना करते हैं। अतएव उनके मुख से मल्लिका के संबंध में सारी बातों की जानकारी प्राप्त कर लेने के अनन्तर आनन्द भी अपने अपराध के लिए उस महिमामयी से क्षमा की याचना करते हैं और कह उठते हैं कि 'आज मुझे विश्वास हुआ कि केवल काषाय धारण कर लेने ही से धर्म पर एकाधिकार नहीं हो जाता—यह तो चित्तशुद्धि से मिलता है'।

यथार्थ में मल्लिका का 'चरित्र धैर्य का—कर्त्तव्य का—स्वयं आदर्श है'। उसके 'हृदय में अखण्ड शान्ति है'। इसी बीच प्रसेनजित का आगमन होता है। वह तथ्य को अच्छी तरह जानती है कि उसके पति की हत्या का कारण वही है फिर भी उसके 'महिमामय मुख मंडल पर तो ईर्ष्या और प्रतिहिंसा का चिन्ह नहीं है'। वस्तुतः इस मूर्तिमयी करुणा एवं क्षमाशीलता को देख कर किसका हृदय आनन्द से नहीं भर जायगा, किसका मस्तक श्रद्धा से नत नहीं हो जायगा! वास्तव में उसकी क्षमाशीलता अलौकिक और अपूर्व है। वह प्रसेनजित के प्रति प्रतिहिंसा से जलती नहीं है बल्कि आहत कौशल-नरेश को अपने आश्रम में लाकर सेवा-शुश्रूषा करती है। दीर्घकारायण के कहनेपर कि 'सांप को जीवन-दान करना कभी भी लोक हितकर नहीं है' तब भी उसकी सारी बातें सुनकर भी प्रसेनजित् के प्रति मल्लिका के भाव परिवर्त्तित नहीं होते। इतना ही नहीं, वह प्रसेनजित को अजातशत्रु के हाथों से बचाती है और अपने उपदेश से उसमें परिवर्त्तन ला देती है। वस्तुतः मल्लिका के चरित्र का प्रभाव अजातशत्रु पर भी पड़ता है। इतना ही नहीं दीर्घकारायण को राज भक्ति के सत्पथ पर प्रेरित करती है तथा स्वयं प्रसेनजित के घातक कुमार विरुद्धक को पाकर भी बहुत तरह के कष्टों को सहकर भी उसकी सेवा करती एवं उसका प्राण बचाती है। यह तो उसकी चिकित्सा हुई परन्तु वह उसकी लिप्सा भी विदूरित कर देती है। अन्त में वह स्वयं कौशल जा कर उसके पिता प्रसेनजित से क्षमा की भीख दिलाकर पुनः युवराज के पद पर प्रतिष्ठित कराती है। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व में विश्व मैत्री की स्थापना का भाव भी अन्त-

व्याप्त है। वस्तुतः मल्लिका का महान चरित्र मानवता की दृष्टि से सम्पूर्ण है तथा आदर्श है।

संक्षेप में मल्लिका पति-परायणता, स्नेह, करुणा, विश्वमैत्री, उदारता, आतिथ्य सेवा, त्याग और कर्त्तव्य की सजीव प्रतिमा है। वह बुद्ध युग की अनुरूप चरित्रशालिनी नारी है। भले ही आज की दृष्टि से आदर्श नारी न हो पर बुद्ध युग के अनुसार इसकी कल्पना सत्य (Real) है।

इस स्थल पर संकेत कर देना अनिवार्य हो जाता है कि प्रसाद जी ने अपने प्रत्येक नाटक में एक ऐसा पात्र अवश्य गुम्फित करते हैं, जिसके चरित्र में अलौकिकता रहती है और उससे सम्बन्धित हो जाने पर छली पुरुष भी सुधर जाते हैं। जिस प्रकार 'अजातशत्रु' नाटक में मल्लिका का स्थान है उसी प्रकार 'विशाख' में 'प्रेमानन्द' का और 'राज्य श्री' में ह्यूनसांग का। फिर भी मल्लिका देवी आवश्यकता से अधिक आदर्श (Ideal) नारी बन गई है और 'सौर जगत से भिन्न, जो केवल कल्पना के आधार पर स्थिर है, उस दिव्य लोक की देवी-सी प्रतीत होने लगती है।'

शक्तिमति (महामाया)

शक्तिमति कोशल-नरेश प्रसेनजित की पत्नी है और इसका पौराणिक नाम वास भखत्तिया है। वह राज्यलिप्सा, अधिकार, सुख एवं महत्वाकांक्षा के लिए लालायित है। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में विवेक का आश्रय ग्रहण नहीं करती है। वह एक दासी पुत्री है, फिर भी अपने हठ से राजरानी बनती है वह महत्वाकांक्षा की मूर्ति तथा साहस की प्रतिमा है। वह अपने पुत्र विरुद्धक को महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुण्ड में कूदने को प्रोत्साहित करती है, विरोधी शक्तियों को दमन करने के लिए कालस्वरूप बनने का नेक सलाह देती है। वह अपने पुत्र की इच्छाओं को दमन कराकर अपने दूध का अपमान कराने देना नहीं चाहती है। जब प्रसेनजित विरुद्धक और शक्तिमती को क्रमशः राजकुमार तथा राजमहिषी बनने के पद से वंचित कर देता है तब वह प्रतिशोध की भावना को लेकर भभक उठती है। वह 'स्त्रियों की सी रोदनशीला प्रकृति लेकर भाग्य के भरोसे' बैठना नही चाहती है वह प्रसेनजित का शत्रु बन जाती है। वह अपने पुत्र को कोशल का सिंहासन प्राप्त करने के लिए उत्तेजित करती है। शक्तिमती की ही प्रेरणा से विरुद्धक डाकू बनता है और राज्य में अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है। इतना ही नहीं, वह बंधुल के वध-संबंधी गुप्त पत्र की बात कहकर कोशल के स्वामीभक्त सेनापति की कर्त्तव्यपरायण स्त्री के हृदय में विद्रोह की भावना उत्पन्न करना

चाहती है। सेनापति बन्धुल की मृत्यु के अनन्तर वह कोशल के नये सेनापति दीर्घकारायण को विद्रोह करने के लिए बार-बार उत्तेजित करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी मनुष्य के हृदय की आन्तरिक भावनाओं को समझकर उन्हें भड़काने की उसमें एक विलक्षण क्षमता है। दीर्घकारायण अपने मातुल के बध का बदला लेने को वह उत्तेजित करती हैपर उसमें इस प्रयत्न में असफलता की एक गहरी ठेस लगती है। भले ही वह कुछ समय के लिए दीर्घकारायण को उत्तेजित कर लेती है परन्तु उसके व्यक्तित्व में मल्लिका का एक अपूर्व प्रभाव है जिसके कारण वह शक्तिमति के साथ अपना पैर नहीं बढ़ाता है।

वह निष्ठुरता की भी प्रतिमा है। उसमें पाशवृत्ति और बर्बरता हैं। इसका सुन्दर निर्दर्शन तब मिलता है जब विरुद्धक कहता है कि—'मां! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के मूल कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहाकर, इस कोशल के सिंहासन पर बैठकर, तेरी वन्दना करूँगा।' इस पर शक्तिमति उसके शिर पर हाथ फेर कर कहती है—'मेरे बच्चे, ऐसा ही हो।' वस्तुतः यह कथन उसकी निष्ठुरता एवं बर्बरता का द्योतक है। इसका दूसरा स्थल देखिये, जब दीर्घ कारायण कहता है—'तब क्या करती है? अपने स्वामी की हत्या करके अपना गौरव, अपनी विजय-घोषणा स्वयं सुनाती?' इस पर शक्तिमति शीघ्र ही उत्तर देती है—'यदि पुरुष इन कामों को कर सकते हैं तो स्त्रियां क्यों न करें?'— अस्तु, यह कथन उसके हृदय की कठोरता, पाषाणता एवं निष्ठुरता

का अत्यन्त सुन्दर परिचायक है। यथार्थ में, अगर उसके सम्मुख इस प्रकार की परिस्थिति आती तो वह कर भी डालती।

शक्तिमति के चरित्र में द्वेष एवं दुर्भावनाओं का सुन्दर समन्वय है। उसे अपने अभीष्ट की सिद्धि में पूर्णरूपेण सफलता नहीं मिलती है। अन्त में वह सभी प्रकार से असफल हो कर मल्लिका देवी के सम्पर्क में आती है। मल्लिका के आदर्श का अच्छा प्रभाव पड़ता है और उसमें सद्भावनाओं का उदय होता है। अन्तमें वह अपने पति से क्षमा माँगती है और इस प्रकार उसके चरित्र की काया पलट हो जाती है।



पद्मावती

पद्मावती मगध-नरेश बिम्बसार की पुत्री और कौशाम्बी-सम्राट उदयन की तीन रानियों में एक है। वह निष्ठुर अजातशत्रु की कोमल हृदय वाली बहन है। उसका आगमन नाटक के प्रथम अङ्क के प्रथम दृश्य में ही होता है। अजातशत्रु लुब्धक की चमड़ी उधेड़ना चाहता है, परन्तु पद्मावती एकाएक आकर उसे रोकती है और मंगलमयी कामना से पूरित हो कर उसे अच्छे मार्ग पर ले चलने की सीख देती है। इसके ऊपर महात्मा बुद्ध का प्रभाव है। इसीलिए उसका आदर्श है कि मानवी-सृष्टि

करुणा के लिए है।' हिंसक तथा क्रूर कर्मों से बचने के लिए वह राजा होने से मनुष्य होना अच्छा समझती है। पद्मावती की सत्कर्मशिक्षा की आलोचना छलना करती है। वह उसपर गृह-विग्रह करने का दोषारोपण करती है। वह इसका प्रतिकार नही करती है बल्कि वह अपने पति के यहाँ चली जाती है। इस दोषा-रोपण के लिए वह प्रतिहिंसा की भावना नहीं रखती।

यह तो सत्य ही है कि करूणानिधान महात्मा गौतम पर उसकी अपार श्रद्धा है इसी बात को लेकर मागन्धीं राजा उदयन के सम्ममुख दुराचारिणी सिद्ध कर देती है, अब की वह खिड़की से भगवान गौतम का दर्शन करती हैं। इस से उदयन का शंकाकुल हृदय उत्तेजित हो जाता है और इस आरोप को सत्य मानकर उसे मानने को तैयार हो जाता है। पद्मावती अत्यन्त शान्त भाव से इसे स्वीकार करती है परन्तु उस सती के तेज के सम्मुख उदयन की पशुता मूक हो जाती है। वह अपना खड्ग प्रयोग में नही लाता है क्योंकि उसका हाथ उठता ही नहीं। पद्मावती को आत्म-सन्तोष है इसीलिये वह प्रतिकार नही करती। वह पति की इच्छा पूर्त्ति में ही नारी जीवन की चरम महत्ता स्वीकार करती हैं। पद्मावती का प्रत्येक कार्य्य उसके त्याग और पति परायणता का परिचायक है अन्त में उदयन को अपनी भूल का ज्ञान होता हैं और उसके समक्ष घुटने टेक देता है।

पद्मावती के चरित्र पर महात्मा गौतम का पूर्ण प्रभाव है। उसमें मल्लिका की तरह विश्व मैत्री तथा करुणा की भावना अन्तर्व्याप्त है। इसका एक आदर्श चरित्र है।

—: अजातशत्रु का गीत-सौष्ठव :—

नाटक की रचना में गीत का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। गीत के द्वारा ही मानव अपने हृदय की भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है क्योंकि उसके हृदय में जिस प्रकार की भावनओं का उद्रेक होता है ठीक उसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति गीत में होती है। मानव हृदय में दो प्रकार की भावनाएँ निहित हैं--एक सुख की और दूसरी दुःख की। जहाँ एक ओर वह अपनी जीवन-तरनी को सुख और आनन्द के सागर में हिलोरें लेने को छोड़ता है वहाँ दूसरी ओर वही जीवन-तरनी जीवन की जटिल एवं विकट समस्याओं में अपना साँस गिनती रहती है। यों तो गीत की उत्पत्ति का एकमात्र आधार है—जीवन का आनन्द, पर जैसे जैसे मानब जीवन के आनन्द को अपनाने की चेष्टा करता है, वैसे वैसे वह दूर का चाँद बन जाता है, जिसके फलस्वरूप मानव दुःख-दर्द की दुनियाँ में टिक जाता है तथा यही है—मानव-हृदय का स्पन्दन। इन दो भावनाओं के अलावे भी, मानव के हृदय में अनेक प्रकार की भावनाएँ कार्य करती हैं, पर उनका जन्म इन्हीं भावनाओं से हुआ है।

इस विश्व में विज्ञान के क्रमिक विकाश के साथ सभ्यता का विकास तो हुआ अवश्य, पर नैराश्य की सघन कालिमा पूर्ण रूप से आच्छादित रही। इसी नैराश्य के बीच हमारे आनन्द का अंकुर पनपा, पर करुणा के स्रोत से पल्लवित रहा। मानव-जीवन का

अधिकांशत भाग इसी वेदना में पल कर आगे बढ़ा है, क्योंकि आनन्द के अनुसंधान में ही वेदना की भीख मिली, जिसका परिणाम मानव-जीवन पर बीत रहा है। यही कारण है कि जिस प्रकार संसार और मानव सुख-दुःखमयी यातनाओं के चक्र में पड़ा रहा है, उसी प्रकार गीत का सृजन भी सुख-दुःख के तानोंवानों से हुआ है। गीत मानव-हृदय का एक राग है, जो आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रेरणा देता है। वस्तुतः वेदना जब अपनी सीमा पर पहुँच जाती है तब ही गीत गाया जाता है। जान ड्रिंक वाटर का कहना है कि–Lyric is projected through a mood of higher intensity. बात भी सत्य है। जब हमारे हृदय से गीत निःसृत होता है तब हमारा हृदय भी कराह उठता है। सुतरां, वेदना की संगीतात्मक अभिव्यंजना ही गीत है। गीत को अंग्रेजी में लिरिक (Lyric) कहते हैं वहाँ भी हमारे भारतीय सिद्धान्त ही लागू होते हैं। 'लिरक' के सम्बन्ध में विलियम हेनरी टडसब ने लिखा है कि –

Lyric Poetry, in the original meaning of the term was poetry composed to be sung to the accompaniment of lyre or harp. In this sense the poet is principally occupied with himself—An Introduction to English Literature, Page 126.

इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने भी गीतों में आत्मनिष्ट भावना का पाया जाना अनिवार्य माना है तथा गीतों का उपयोग

संगीत के लिए होता है। सारांश यह है कि एक के अभाव में दूसरा प्रभाव हीन तथा निरर्थक है अर्थात गीत और संगीत का अटूट सम्बन्ध है।

हाँ, गीतों का ऐतिहासिक महत्व भी है, जिसकी एक मनोरंजक कहानी है। भरत मुनि ने नाटक की उत्पत्ति दैवी बतलाई है। जब सृष्टि की रचना हुई तब कुछेक देवताओं ने ब्रह्मा के पास आकर 'मनोरंजन के अभाव की चर्चा की। इस पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से कथनोपकथन, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय कला और अथर्ववेद से रस लेकर उनके मनोरंजन के लिए नाटक का सृजन किया। विश्वकर्मा द्वारा रंगमंच का निर्माण हुआ। त्रिपुर दाह के अवसर पर शंकर की आज्ञा से ताण्डव की योजना हुई और पार्वती ने लास्य नृत्य बतलाई। तथा विष्णु ने चार नाट्य-शैलियाँ प्रदान कीं। इस प्रकार इन्द्र-ध्वज के अवसर पर देवताओं द्वारा नाटक का अभिनय हुआ। वस्तुतः बीज रूप में नाटकीय हमारे वेदों में ही वर्तमान हैं। उस समय यज्ञों के अवसर पर नाटक का अभिनय हुआ करता था। नाटक का आदि रूप यमयमी तथा पुरुर्वा-उर्वशी के संवाद में है। गायन, नृत्य और अभिनय प्राचीन काल की वस्तु है—['यस्यां-गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां—पृथ्वीसुक्त]। उसीं युग से आज तक के नाटकों में गीतों का प्रयोग होता आया है। यही है इसका ऐतिहासिक महत्व। इस प्रकार नाटक की, रचना कथनोपकथन, संगीत और नृत्य पर ही निर्भर करती है।

रंगमंच पर मनोरंजनका सबसे सुन्दर साधन है गीत। इससे मनोरंजनी वृत्ति की तृप्ति होती है। यों तो अभिनय द्वारा ही

क्रिया-कलाप का दिग्दर्शन होता है, पर अन्तःकरण के सूक्ष्म मनोभावों का व्यक्तिकरण गीतों के द्वारा ही होता है। परिस्थिति-नुसार मनुष्य की अन्तरात्मा जिस प्रकार की भावनाओं से उत्प्रेरित है, उसी का सजीव चित्रण गीत में होता है। अगर गीत में प्राणमय प्रकाशन की क्षमता न रही तो नाटक का महत्व ही नहीं रह जाता है। इसीलिए यह कहा गया है कि चित्रमय गीत ही नाटक का सार तत्व है। सुतरां गीत के अभाव में नाटक अधूरा है, क्योंकि नृत्य, गीत, चित्र तथा काव्य की संधि का नाम ही 'नाटक' है। गीतों की उपयोगिता का यही मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

और अब है--गीतों की उपयोगिता का शास्त्रीय दृष्टिकोण। नाटक एक प्रकार का गद्य-काव्य है और मानव एकरसता प्राणी न होने के कारण कुछ रसात्मक गीतों की बहार लूटना चाहता है, जिससे उसकी मानसिक तपन दूर हो जाय। अगर इसके अभाव में थकान दूर न हुई तो नाटककार की असफलता साफ नजर आ जाती है। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने प्रसंगवश ठीक ही लिखा है--'नाटक में गीतों की आवश्यकता है और रहेगी, जीवन यात्रा के शुष्क मरुप्रदेश में चलकर मनुष्य किसी न किसी क्षण कुछ गुनगुनाना चाहेगा ही।' सचमुच सात्विक विराम देने के लिए गीतों का प्रयोग अपेक्षित है, कदापि इसका यह अर्थ नहीं कि नाटकों में गीतों की संख्या अधिक रहे, बल्कि उनकी स्थानीय उपयुक्तता और भाव-प्रदर्शन नाटक के दृश्यों को और भी अधिक तीव्र एवं आकर्षक बना देते हैं। भरतमुनि ने भी नाटकों में अत्यधिक गीत-नृत्य का स्थान देने के लिए मना किया है—

संगीत के लिए होता है। सारांश यह है कि एक के अभाव में दूसरा प्रभाव हीन तथा निरर्थक है अर्थात गीत और संगीत का अटूट सम्बन्ध है।

हाँ, गीतों का ऐतिहासिक महत्व भी है, जिसकी एक मनोरंजक कहानी है। भरत मुनि ने नाटक की उत्पत्ति दैवी बतलाई है। जब सृष्टि की रचना हुई तब कुछेक देवताओं ने ब्रह्मा के पास आकर 'मनोरंजन के अभाव की चर्चा की। इस पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से कथनोपकथन, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय कला और अथर्ववेद से रस लेकर उनके मनोरंजन के लिए नाटक का सृजन किया। विश्वकर्मा द्वारा रंगमंच का निर्माण हुआ। त्रिपुर दाह के अवसर पर शंकर की आज्ञा से ताण्डव की योजना हुई और पार्वती ने लास्य नृत्य बतलाई। तथा विष्णु ने चार नाट्य-शैलियाँ प्रदान कीं। इस प्रकार इन्द्र-ध्वज के अवसर पर देवताओं द्वारा नाटक का अभिनय हुआ। वस्तुतः बीज रूप में नाटकीय हमारे वेदों में ही वर्तमान हैं। उस समय यज्ञों के अवसर पर नाटक का अभिनय हुआ करता था। नाटक का आदि रूप यमयमी तथा पुरुर्वा-उर्वशी के संवाद में है। गायन, नृत्य और अभिनय प्राचीन काल की वस्तु है—['यस्यां-गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां—पृथ्वीसुक्त]। उसी युग से आज तक के नाटकों में गीतों का प्रयोग होता आया है। यही है इसका ऐतिहासिक महत्व। इस प्रकार नाटक की, रचना कथनोपकथन, संगीत और नृत्य पर ही निर्भर करती है।

रंगमच पर मनोरंजनका सबसे सुन्दर साधन है गीत। इससे मनोरंजनी वृत्ति की तृप्ति होती है। यों तो अभिनय द्वारा ही

क्रिया-कलाप का दिग्दर्शन होता है, पर अन्तःकरण के सूक्ष्म मनोभावों का व्यक्तिकरण गीतों के द्वारा ही होता है। परिस्थिति-नुसार मनुष्य की अन्तरात्मा जिस प्रकार की भावनाओं से उत्प्रेरित है, उसी का सजीव चित्रण गीत में होता है। अगर गीत में प्राणमय प्रकाशन की क्षमता न रही तो नाटक का महत्व ही नहीं रह जाता है। इसीलिए यह कहा गया है कि चित्रमय गीत ही नाटक का सार तत्व है। सुतरां गीत के अभाव में नाटक अधूरा है, क्योंकि नृत्य, गीत, चित्र तथा काव्य की संधि का नाम ही 'नाटक' है। गीतों की उपयोगिता का यही मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

और अब है—गीतों की उपयोगिता का शास्त्रीय दृष्टिकोण। नाटक एक प्रकार का गद्य-काव्य है और मानव एकरसता प्राणी न होने के कारण कुछ रसात्मक गीतों की बहार लूटना चाहता है, जिससे उसकी मानसिक तपन दूर हो जाय। अगर इसके अभाव में थकान दूर न हुई तो नाटककार की असफलता साफ नजर आ जाती है। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने प्रसंगवश ठीक ही लिखा है—'नाटक में गीतों की आवश्यकता है और रहेगी, जीवन यात्रा के शुष्क मरुप्रदेश में चलकर मनुष्य किसी न किसी क्षण कुछ गुनगुनाना चाहेगा ही।' सचमुच सात्विक विराम देने के लिए गीतों का प्रयोग अपेक्षित है, कदापि इसका यह अर्थ नहीं कि नाटकों में गीतों की संख्या अधिक रहे, बल्कि उनकी स्थानीय उपयुक्तता और भाव-प्रदर्शन नाटक के दृश्यों को और भी अधिक तीव्र एवं आकर्षक बना देते हैं। भरतमुनि ने भी नाटकों में अत्यधिक गीत-नृत्य का स्थान देने के लिए मना किया है—

गीत वाद्ये च नृत्तेच प्रवृत्तेऽति प्रसंगतः।
खेदो भवेत् प्रयोक्तृणां प्रक्षकाणाम् तत्रैव च ।

प्रसादजी ने भी 'अजातशत्रु' में गीतों की योजना की है, वह किसी विशेष उद्देश्य या धारणा को लेकर नहीं बल्कि गीतों के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक तथा शास्त्रीय महत्व को समझकर। ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए यह स्पष्ट होता है कि भारत के प्राचीन नाटकों में भी गीत अवश्य रहे हैं, परन्तु आधुनिक नाटकों में गीतों की अधिकता अधिक रहती है। इसका कारण यह है कि हम हिन्दी नाटककारों ने पारसी नाटककारों की इस प्रवृति का अनुकरण किया है। यों, बात जो भी हो, प्रसाद जी ने भी भारतीय परम्परा का अनुकरण किया है। शास्त्रीय दृष्टि से यह दीखता है कि नाटकों में गद्यमय सम्वादों के रहने से जो शिथिलता छाई रहती है, उससे पाठक या दर्शक का मन ऊब जाता है, इसलिए नाटकों में गीत का रहना अनिवार्य है। गीतों के अभाव में जो दुरुहत्ता नाटकों में आजाती है, वही गीतों के रहने से दूर हो जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये गीत चरित्र-चित्रण में भी सहायक है, क्योंकि वह पात्रों की प्रवृतियों का दिग्दर्शन कराता है। गीत ही पात्रों का प्राण है। चौथी बात यह है कि ये गीत रस के उद्रेक और परिणाम की परिणति में भी सहायक हुए हैं। पाँचवीं बात यह है कि प्रसादजी ने काव्य-प्रकृति के वश में होकर गीतों का उपयोग करना आवश्यक समझा। गीतों की स्थानीय उपयुक्तता और भाव-प्रदर्शन नाटक के दृश्यों को और भी अधिक तीव्र बना देता है। कवि-हृदय होने के कारण वे गीतों के अतिरेक से न बच सके हैं।

जो भी हो, 'अजातशत्रु' में बहुत ही सुन्दर गीत भरे पड़े हैं। उन गीतों में कल्पना, भावुकता, चित्रमयता, लाक्षणिकता एवं रसात्मकता का सुन्दर समन्वय है, जो शेक्सपियर के गीतों से भी सुन्दर व न पड़े हैं ! शेक्सपियर के गीत लौकिक जगत के हैं, पर हमारे प्रसाद के कवि-हृदय ने लौकिक जगत से अलौकिक जगत की ओर प्रयाण किया है। हमारी आत्मा भी कवि के साथ होकर 'क्षितिज के उस पार' अनजान अपरिचित गगन में जा पहुँचती है। सम्राट उदयन की उपेक्षा से व्याकुल पद्मावती वीणा लेकर व्यथित हृदय की वेदना एवं आह को भुलावा देने के लिए बैठी है और बजाने का कई प्रयास करती है, पर 'जब भीतर की तन्त्री बेकल है तब यह कैसे बजे ! मेरे स्वामी ! मेरे नाथ ! यह कैसा भाव है प्रभु !' इस प्रकार वह अपने आराध्य को पुकार कर अपनी साधना की सीमा पार कर जाती है, वहीं सङ्गीत की स्वर लहरी प्रकंपित उच्छ्वास के रूप में निकल पड़ती है, जो दूसरों को रुला देने की क्षमता रखती है—

मीड़ मत खिंचे बीन के तार !
निर्दय उँगली ! अरी ठहर जा,
पल भर अनुकम्पा से भर जा,
वह मूर्छित मूर्छना आह-सी
निकलेगी निस्सार !

गाते-गाते वह भाव-मग्न हो जाती है तो पद्मावती के हृदय की आकुलता 'परदे के उस पार' नृत्य करेगी—यह अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है—

मसल उठेगी सकरुण व्रीड़ा,
किसी हृदय को होगी पीड़ा,
नृत्य करेगी नग्न विकलता !

परदे के उस पार।

इसमें केवल मानवी जगत् के एकाकीपन की नीरवता का करुण-गीत नहीं है। इसमें अपने संवेदनशील हृदय-प्रेमी से विलग हो जाने की भी विरह-वेदना नहीं, बल्कि उसमें है—'असीम के प्रति ससीम की पुकार—परमात्मा के लिए आत्मा की लालसा।' इसमें उसकी मानसिक वेदना तथा असमर्थता का सुन्दर चित्र तैयार किया गया है, जो अद्वितीय है।

हाँ, अब यह देखना है कि प्रसादजी ने इसमें गीतों का उपयोग किन-किन रूपों में किया है, इसके गीत प्रधानतया पाँच तरह के हैं। यह देखिये—

१—नीति और व्यवहार के रूप में—

(क)—न धरो कह कर इसको अपना······

—अंक १, दृश्य ४

(ख)—स्वर्ग है नहीं दूसरा और

—अंक ३, दृश्य २]

२—भक्ति और प्रार्थना-गीत के रूप में—

(क)—दाता सुमति दीजिये।

—अंक २, दृश्य ६]

(ख)—अधीर न हो चित्त विश्व मोहजाल में।

—अंक २, दृश्य ३]

(ग)—स्वजन दीखता न विश्व में अब।

—अंक ३, दृश्य ७]

—प्रकृति के रूप में—

(क)—चला है मन्थर गति से पवन रसीला नन्दन कानन का।

—अङ्क २, दृश्य ४]

(ख)—अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब।

—अङ्क २, दृश्य २]

(ग)—चल बसन्त वाला अंचल से
किस घातक सौरभ से मस्त।

—अङ्क ३, दृश्य ६]

४—शृंगार और प्रेम के रूप में—

(क)—अली ने क्यों अवहेला की।

—अङ्क १,दृश्य ५]

(ख)—प्यारे निर्मोही होकर मत हमको भूलना रे

अङ्क १, दृश्य ५]

(ग)—मीड़ मत खींचे वीन के तार।

—अङ्क १, दृश्य ६]

(घ)—निर्जन गोधूली प्रान्तर में
खोले पर्णकुटी के द्वार।

अङ्क २, दृश्य ८]

(ङ)—हमारे जीवन का उल्लास,
हमारे जीवन-धन का रोष।

—अङ्क २, दृश्य २]

५—पूर्ण रहस्यवादी गीत के रूप में—

(क)—आओ हिये में अहो प्राणप्यारे।

—अङ्क ७, दृश्य ५]

(ख)—बहुत छिपाया उफन पड़ा

अब सम्हालने का समय नहीं है।

—अङ्क २, दृश्य २]

इसमें नाटकीय गीतों की उपयोगिता का क्रमशः विकास हुआ है। इसमें सुन्दर गीतों का संकलन है, जो परिस्थिति, पात्र और समय के अनुकूल है। उनके गीत स्वतंत्र प्रतीत होते हैं, जो बाद में नाटक में रख दिए गये हैं। खैर जो भी हो, उसके गीत समय तथा परिस्थिति के अनुकूल हैं। यों तो वे सब नाटक के लिए उपयोगी हों या न हों, इसकी गर्ज हमें नहीं पड़ी है। अजातशत्रु के कुछ गीत व्यर्थ प्रतीत होते हैं और शायद प्रसादजी के अन्य नाटकों से इसमें गीतों की संख्या अधिक है। अब हम उनके गीतों पर प्रकाश डालते हैं—

भिक्षुकों का एक गीत है जिसमें महात्मा गौतम के सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से संकर है। इसमें करुणा का स्रोत है, जो विश्व-बन्धुत्व का प्रथम सोपान है। यह गीत इस प्रकार है—

न धरो कहकर इसको अपना।
यह दो दिन का है सपना॥

यों तो सचमुच पूछा जाय तो इस गीत का कोई खास महत्व नहीं है। भिक्षुओं की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि भिक्षा मांगने

क हेतु जब कभी बाहर निकलते है तब गीत अवश्य गाया करते हैं। इस गीत में बौद्ध भिक्षुओं का सिर्फ उपदेश ही है, जिसका प्रभाव वासवी पर पड़ता है।

महात्मा गौतम की छाया में पत्नी सहिष्णु तथा सदाचारिणी वासवी अपनी सौतीन छलना के 'कटु व्यवहार को देखकर—'दाता सुमति दीजिये' की अर्चना करती है। यह है वासवी की सहनशीलता और क्षमा का अक्षय वरदान।

प्रार्थना के रूप में मल्लिका का एक गीत है। उसका पति द्वन्द्व-युद्ध में मारा गया है। युद्ध का घायल प्रसेनजित मल्लिका की सेवा-सुश्रूषा में रहा और उसकी 'शीतलता ने इस जलते हुए लोहे पर विजय प्राप्त कर ली।' वह स्वर्गीय सेनापति बन्धुल की मृत्यु का दोषी अपने आप को ठहराता है और एक अभिशाप की याचना करता है 'जिससे नरक की ज्वाला शान्त हो जाय और पापी प्राण निकलने में सुख पावे।' तब वह प्रार्थना गीत के रूप में कह देती है—

अधीर न हो चित्त विश्व मोह जाल में।

यह गीत कुछ गजल के तर्ज पर है। इससे स्पष्ट होता है कि उन पर पारसी नाटकों की गजलबाजी का प्रभाव पड़ा है, इसका विस्तृत विवेचन हम 'भाषा-शैली' के निबन्ध में करेंगे।

मागन्धी के गीतों की अभिव्यञ्जना परिस्थिति के अनुकूल हुई है। वह सात-सात बार गाती है। वे सब छोटे-मोटे गीत नहीं हैं, बल्कि लम्बे-लम्बे, जो नाटक के लिए उचित नहीं जान

पड़ता है। यह उनकी काव्य-प्रयता का दोष है। रूप-गर्विता मागन्धी 'दरिद्र कन्या के होने के अपमान से दुखी' है और उसे महाराज उदयन का प्यार भी नहीं मिला है, जिसके कारण उसके हृदय के तार आप ही आप लड़खड़ा कर कह उठते हैं—'अली ने क्यों भला अवहेला की।' इस गीत की पंक्तियों में हृदय की मार्मिक अनुभूति है। कारण यह कि उदयन के हृदय पर महारानी पद्मावती का अधिकार है और स्वयं महाराज भी भौंरे की तरह उसी फूल-सी पद्मावती पर मड़राते रहते हैं—

यही तो मागन्धी के लिए एक अभिशाप है, पीड़ा है, सन्ताप है और है भी विफल प्रेम का उच्छ्वास। खैर, महाराज के आगमन के कारण उसके मनोरञ्जन के लिए नर्तकियों का गीत होता है और उस गीत 'प्यारे निर्मोही होकर मत हमको भूलना रे' में शृङ्गार और प्रेम का रस है। इसमें कैसी याचना है—'निर्मोही मत भूलना रे।' यह गीत नर्तकियों के द्वारा तो गाया अवश्य गया है, पर मागन्धी के हृदय की करुण झंकार है, जिसमें मार्मिक पीड़ा प्रेमोन्मत्त होजाती है। वह पान कराती और गाती है—

आओ हिये में अहो प्राण प्यारे।

  

तपन बुझे तन की और मन की,
हों हम तुम पल एक न न्यारे।

यह नर्तकियों के गीत के सदृश्य है, पर इसमें प्रसाद का कवि अपनी आत्मा और तन की तपन बुझा कर 'हो हम तुम पल एक न न्यारे' की कामना करता है। यह पूर्ण रहस्यवादी गीत है और इसमें रहस्यवादी अस्पष्टता भी झलकती है अवश्य। उदयन का हृदय अपनी ओर मोड़ लेती है, पर उसे अपने कुचक्र के कारण राज-प्रासाद को छोड़ना पड़ता है। अब काशी में वह वारविलासिनी श्यामा है। उसे 'धन की कमी नहीं, मान का कुछ ठिकाना नहीं; केवल सापत्न्य ज्वाला की पीड़ा' है। शैलेन्द्र के दर्शन से ही उसकी वासना संयम का अतिक्रमण कर दूर जा पड़ती है और कहती है—

बहुत छिपाया उफन पड़ा अब
सम्हालने का समय नहीं है।

इस पूरे गीत के पढ़ने से हम उसी रंग में रँग जाते है जिस रंग में कबीर ने अपने आप को रंग लिया था। मागन्धी भी उसी दशा का अनुभव करती है—

लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं गई और मैं भी हो गई लाल॥

और मागन्धी की वासना में आलिंगन का आवेश तथा आसक्ति है। उसकी वासना विलास करने की कामना करती है--

चपल निकल कर कहाँ चले अब,
इसे कुचल दो मृदुल चरण से।

कि आह निकले दबे हृदय से,
भला कहो यह विजय नहीं है॥

यहाँ पर मागन्धी का यौवन सम्पूर्ण रूप के साथ व्यक्त हो पड़ा है। यौवन का तकाज़ा बड़ा ही महँगा है। इसके उपरान्त इसका एक गीत और है, जिसका कथावस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। इसमें सिर्फ प्रकृति का चित्रण है और न इसका कोई महत्व है, जो नाटकीयता में जान ला दे। गीत का प्रथम चरण यों है—

चला है मन्थर गति से पवन
रसीला नन्दन कानन का

श्यामा का गीत परिस्थितियों से कम सम्बन्ध नहीं रखता है। श्यामा का प्रेमी हृदय अपने को शैलेन्द्र के चरणों पर आत्म-समर्पण कर देता है। उसकी 'आलस्य-पूर्ण सौन्दर्य की तृष्णा' ने 'हिंस्र पशु को पालतू बना लिया' है। शैलेन्द्र की दृष्टि में श्यामा एक अष्टम पहेली बन गई है। तब शैलेन्द्र श्यामा पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाता है—'तुम क्या हो सुन्दरी ?' वह अपना विश्वस्थ परिचय गीतों के गीले रागों में देती है—

निर्जन गोधूली प्रान्तर में
खोले पर्णकुटी के द्वार।
दीप जलाये बैठे थे तुम
किये प्रतीक्षा पर अधिकार॥

इससे स्पष्ट होता है कि श्यामा के हृदय में अभाव का हाहाकार है, वह आर्थिक अभाव नहीं है बल्कि उसकी निर्निमेष दृष्टि

शैलेन्द्र के प्रेममय दामन की छाया में कुछ क्षणों के लिये टिकना चाहती है। श्यामा के स्नेह में शैलेन्द्र पराभूत हो गया है। श्यामा की स्नेह-रश्मि से उसका शौर्य-प्रदर्शन, वीरत्व एवं उद्धत विचार ठप बोल गया है। वह अपने जीवन का अन्त शैलेन्द्र की गोद में चाहती है। इस गीत में श्यामा के हृदय की तीव्रता से बढ़कर उसकी करुण-वेदना-विह्वल हृदयकी विवशता का चित्र है जो पाषाण को भी पिघला देता है। यही कारण है कि हमारी कुछ सहानुभूति उसको मिलती है। श्यामा ने अपने तन और मन को शैलेन्द्र के हृदय का तन्तु बनाना चाहा, पर वह उसके द्वारा भी छली गयी तब वह सांसारिक माया से उत्पन्न निष्कर्ष पर आती है और कहती है—'जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं—वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है।' इसीलिये वह गाती हुई कहती है—'स्वर्ग है नहीं दूसरा और' अब वह विगत जीवन में मिलने वाली आत्म-प्रवंचना से तिलमिला उठती है। निम्नस्थिति में आकर वह माहात्मा गौतम की अनुयायिनी बन गई। अब वह अपनी वास्तविक स्थिति पर मनन करते हुए कहती है—'वाह री नियति! कैसे-कैसे दृश्य देखने में आये—कभी बैलों को चारा देते हाँथ नहीं थकते थे, कभी हाथ से जल उठाने में संकोच न होता था…………।' इस तरह कहते कहते वह भावावेश में आकर अपने जीवन की करुण गाथा को गाती है—

स्वजन दीखता न विश्व में अब,
न बात मन में समाय कोई।
पड़ी अकेली विकल रो रही,
न दुःख में है सहाय कोई॥

यह गीत मागन्धी की आन्तरिक परिस्थिति के अनुकूल है। आज उसका कोई स्वजन नहीं है, जो उसकी वेदना-मिश्रित कहानी सुने। 'वास्तविक रूप से परिवर्तन की इच्छा' ने उसके जीवन में विषमता ला रखी। मल्लिका के सम्पर्क में रह उसे करुणा का ज्ञान हुआ और तब से वह अनन्त पर विश्वास करने लगी।

वाजिरा के 'अन्तः करण में एक नवीन स्फूर्ति हो गई है। एक नवीन संसार इसमें बन गया है।' वह प्राचीर के वन्दी अजातशत्रु के यौवन की स्फूर्ति और उल्लास के सौन्दर्य को देखने का अनुनय करती है—

हमारे जीवन का उल्लास,
हमारे जीवन धन का रोष।

हमारी करुणा के दो बूँद,
मिले एकत्र हुआ सन्तोष॥

इसमें यौवन का मादक संगीत है, एक सधी तान है और नारी-जीवन के आवेश का उद्गार है। ठीक ही किसी शायर ने 'चपल नयन और रूप सौन्दर्य' को देख कर फरमाया है—

इस सादगी पर कौन न मर जाय ये खुदा।

विरुद्धक का एक गीत है—जलद के प्रति। इसमें सिर्फ प्रकृति का चित्र आंका गया है। इसका प्रथम चरण है—

अलका की किस विकल विरहिणी
की पलकों का ले अवलम्ब ।

इसके अन्तिम दृश्य में संध्या का दृश्य और ठण्डी हवा का चलना बिम्बसार की कुटीर में नेपथ्य से गाये हुए गीत—'चल वसन्तबाला अंचल से किस घातक सौरभ में मस्त'—के द्वारा व्यक्त किया गया है। नाटक में इस गीत का कोई महत्व नहीं है। यों तो नेपथ्य - गीत काव्यात्मक एवं मनोरम हैं जो हमारे लिए श्रोतव्य है, पर व्यवहार की दृष्टि से इतना बड़ा नेपथ्य-गीत अनुपयुक्त है।

अजातशत्रु में प्रसाद गीतों के अतिरेक से न बच सके। इसके कुछ गीत तो पात्र स्थल और विषय की संगति के आधार पर उपयुक्त हैं और इनका कथावस्तु के साथ मेल भी है। अजातशत्रु के गीतों में उपेक्षिता पद्मावती का 'मींड़ मत खिंचे बीन के तार' वाला गीत अत्यन्त ही सुन्दर बन पड़ा है, जो नाटक में चार चांद लगा देता है। इसके वाद श्यामा का—'स्वजन दीखता न विश्व में अब न वात मन में समाय कोई' का स्थान है जिसमें ठोकर खाने के उपरान्त हृदय की मार्मिक वेदना की विफल तस्वीर है। प्रसाद के गीत हमारे जीवन के गीत हैं, हमारे जीवन का संबल है और उसमें भावों का एक चँदोवा तना हुआ है, जो हमारे लिए एक नई वस्तु है और चिरयुगीन स्मरणीय है।

यह तो नाटकीय गीतों का भावपक्ष रहा, अब कलापक्ष का मनुहार करें।

अजातशत्रु के गीतों की कला की परख एक-एक गीत को लेकर करेंगे। पहला गीत है—'गोधूली के राग-पटल में स्नेहाँचल फहराती है' (पृ० सं० ३५)। उसमें करुणा को मानव का रूप दिया गया। उसमें अमूर्त भावनाओं को मूर्त आकार मिला है। इसमें प्रकृति-चित्रण नहीं वरन् भाव-चित्रण है। लाक्षणिक वैचित्र्य के लिए 'स्निग्ध उषा', 'मधुरबालक', "चन्द्रकान्ति', 'ओस-बूँद' आदि शब्द आए हैं। पर इसकी अन्तिम दो पंक्तियों में अभिधा के लक्षण हैं क्योंकि अर्थ सरल है। इसमें लक्षणा, व्यञ्जना, और मूर्तिविधान का गुण विद्यमान है।

मागन्धी का 'अली ने क्यों भला अवहेला की' (पृ० सं० ४८) वाला गीत प्रगीत मुक्तक के रूप में है। यह अन्योक्ति-पूर्ण गीत है। इसमें 'अलि' का प्रयोग 'उदयन' के लिए हुआ है। नर्तकियों के गीत—

बरसो सदा दया-जल शीतल।
सिंचे हमारा हृदय-मरुस्थल॥

अरे कँटीले फूल इसी में फूलना रे। (पृ० सं० ४९)
—में परम्परित रूपक है क्योंकि इसमें एक रूपक दूसरे रुपक का कारण बन गया है।

मागन्धी का दूसरा गीत है—'आओ हिये में अहो प्राण प्यारे।' (पृ० सं० ५२) इसमें उदयन के लिए अर्चना की गई है। इसमें 'तपन' जैसे तद्भव शब्द हैं तथा 'हिए', 'नैन', 'अहो' आदि व्रजभाषा के शब्द हैं पर इसमें खड़ी बोली की क्रिया है।

पद्मावती का गीत "मीड़ मत खिंचें बीना के तार" एक आदर्श (Ideal) गीत है। इसमें गति (Pattern) भी हैं और लक्षणा का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ है यथा—'निर्दय अँगुली', 'अरी ठहर जा', 'मूक मंत्र', 'स्वर संसार'; 'सकरुण क्रीड़ा', 'नग्न विकलता' आदि। इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग भी काफी हुआ है।

बहुत छिपाया उफन पड़ा अब,
सम्हालने का समय नहीं है।

—गीत में कार्यकारण का संबन्ध है। इसमें भी लक्षणा का प्रयोग खूब हुआ है। 'यदि विरुद क्या तुम्हें सुहाता कि नील नीरद सदय नहीं है' में अन्योक्ति अलंकार है। निम्नलिखित पंक्तियों में परम्परित रूपक का अवलोकन कीजिए—

जली दीपमालिका प्राण की;
हृदय-कुटी स्वच्छ हो गयी है।
पालक-पावड़े बिछा चुकी हूँ,
और भय नहीं है॥

इसके अतिरिक्त इसमें चित्र-विधान नहीं है।

चला है मन्थर गति से पवन
रसीला नन्दनकानन का
नन्दनकानन का रसीला नन्दनकानन का।

—इस गीत में 'नन्दनकानन' की आवृत्ति है तथा 'विखर

रही है किस यौवन की किरण, खिला अरविन्द म्लान है किसके आनन का'—में प्रतीक-योजना है तथा 'उषा सुनहला मद्य पिलाती' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

'अधीर न हो चित्त विश्वमोह जाल में' वाले गीत की प्रथम तीन पँक्तियों में सांगरूपक अलंकार है।

'निर्जन गोधूली प्रान्तर में खोले पर्णकुटी के द्वार' गीत में हृदय की अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान किया गया है। 'प्रतीक्षा पर अधिकार' 'व्यथा के सोने में' से लाक्षणिक अर्थ निकलता है।' पलकें झुकी यवनिका-सी थी' में उपमा अलंकार है।

वाजिरा के गीत 'हमारे जीवन का उल्लास, हमारे जीवन धन का रोष' में 'हमारे' शब्द की आवृत्ति है तथा 'चला दो चपल नायक के बाण' में रुपक (Metapher) है।

विरुद्धक के गीत 'अलका की किस विकल विरहिणी की पलकोंका ले अवलम्ब' में चित्रमयता और पर्यवेक्षण का सहज संयोग है। 'वरस पड़े क्यों आज अचानक सरसिज कानन का संकोच' में कार्यकारण का सम्बन्ध है। यहाँ पर लक्षणा ने कमाल किया है। इसी गीत में एक जगह उपमा का उद्धरण लें—

चपला की व्याकुलता लेकर,
चातक का ले करुण विलाप।
तारा आँसू पोंछ गगन के,
रोते ही किस दुख से आप॥

दूसरी जगह रूपतिशयोक्ति अलंकार भी है---

किस मानस-निधिमें न बुझा था,
बड़वानल जिससे बन भाप।
प्रणय-प्रभाकर से चढ़कर,
इस अनन्त का करते माप॥

तथा अंतिम अंक के अंतिम दृश्य के नेपथ्य गीत 'चल बसन्तबाला अंचल से किस घातक सौरभ में मस्त'—एक अन्योक्तिपूर्ण गीत है तथा इसमें भावनात्मक भूल (Pathetic Fallacy) भी है जैसे---'सौरभ थोड़े ही घातक हैं।' इसके अतिरिक्त इसमें लक्षणा का प्राचुर्य है।

प्रसाद जी के गीतों के कलापक्ष के संबंध में हम यही कहेंगे कि वे एक छायावादी कवि हैं और इसलिए उनकी कविताओंमें छायावादी अभिव्यंजना-पद्धति का संपूर्ण संयोग है। अतः नाटककार की हैसियत को रखते हुए प्रसाद एक सफल गीतकार भी हैं।

अजातशत्रु में हास्य-विनोद

यों तो भारतीय-साहित्य में हास्य-विनोद का नितान्त अभाव रहा है, जैसा कि कुछेक विद्वानों ने कहा है, फिर भी नाटकों में इसके दो-चार छींटें अवश्य रहे हैं। नाटक जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति है और इसमें सुख-दुख, पाप-पुण्य, हर्ष-विषाद आदि का पूर्ण चित्र रहता है। मानव एकरस-प्राणी नहीं है इसीलिए वह नाटकों में विभिन्न चरित्र के पात्रों का निदर्शन एवं उससे आनन्द-लाभ करना चाहता है। इसकी पूर्ति के लिये हमारे प्राचीन आचार्यों ने नाटकों में भिन्न-भिन्न रसों को यथासंभव स्थान दिया और इन्हीं रसों में से हास्य-विनोद को प्रश्रय भी मिला तथा इसकी निस्पत्ति नाटकों में हुई।

वस्तुतः नाटकों में हास्य-विनोद का सामंजस्य क्यों होता है? इसकी एक कहानी है। प्राचीन काल में सम्राटों के मनोरंजन के लिए एक विदूषक रहा करता था जो समय-समय पर उनका मनोविनोद करता था। वह जाति का ब्राह्मण और हाजिर-जवाब होता था। वह सम्राट के विश्वसनीय पात्रों में एक होता था जो दूध और पानी की तरह सम्राट के साथ मिला रहता था तथा उसे कोई भी उनसे अलग नहीं कर सकता था। उस युग में यह नाटकीय उपादान राज-प्रासाद की दीवारों के अन्दर की वस्तु थी। सुतरां उन प्राचीन नाटकों में विट, चेट, पीठ, मर्द आदि कई प्रकार के विदूषकों का निरूपण करते हैं। हाँ, अब के नाटकों में उन

विदूषकोंका विद्यमान होना कुछ बुरा-सा लगता है क्योंकि सभी समय में इनका कार्य दांत निपोड़ना ही रहा है और इनका कोई दूसरा उपयोग नहीं।

आज युग ने पलटा खाया। नाटक ने राजकीय-सम्पर्क के रेशमी बन्धन को त्याग कर मानव-समाज तथा जीवन से अपना साहचर्य स्थापित किया। अब नाट्यकला का विधान बदल गया तथा उसके साथ मनोविज्ञान ने भी अपना गठबन्धन किया, जिसके हेतु विदूषक नाटकों में एक फालतू पात्र समझा जाने लगा। विश्व का प्रत्येक मानव हँसता है, रोता है। इसभूमि पर कोई ऐसा प्राणी नहीं है जो इस माया, मोह और ममता के जाल में फँसा न हो। इसीलिए विदूषक का सदा हँसना अस्वाभाविक जँचता है। यही कारण है कि आजकल ऐसे पात्र नाम मात्र के लिए नाटक में रक्खे जाते हैं।

यथार्थतः प्रसादजी की प्रवृत्ति हास्य-विनोद की ओर नहीं रही, क्योंकि 'दार्शनिक के गहन चिन्तन में संसार की करतूतों की झलकता है, और करुणा की पोषक दुःखानुभूति रहती है' १। उनका दार्शनिक चिन्तन रहा 'फूल हँसते हुए आते हैं, फिर मकरन्द गिरकर मुरझा जाते हैं, आँसू से धरणी भिगो कर चले जाते हैं। एक स्निग्ध समीर का झोंका आता है, निश्वास फेंक कर चला जाता है' २। गुलामी के हेतु उनके हृदय में करुणा का गृह बन गया है और इसी के कारण 'देश के बच्चे चिन्ता-ग्रस्त और दुर्बल

१ प्रसाद का नाट्य चिंतन-शिखर चंद जैन

२ चंद्रगुप्त—जयशंकर प्रसाद

दिखाई देते हैं। स्त्रियों के नेत्रों में विह्वलता सहित और भी कैसे-कैसे भावों का समावेश हो गया है। व्यभिचार ने लज्जा का प्रचार कर दिया है। छिपकर बातें करना, वीरता नाम के किसी अद्भुत पदार्थ की ओर अन्धे होकर दौड़ना युवकों का कर्त्तव्य हो रहा है। वे शिकार और जुआ, मदिरा और विलासिता के दास होकर गर्व से छाती फुलाते घूमते हैं। कहते हैं, हम धीरे-धीरे सभ्य हो रहे हैं!'[३] इसीलिए प्रसादजी ने विदूषक ऐसे पात्रों का सृजन बहुत अल्पमात्रा में किया है क्योंकि गंभीर एवं संघर्षपूर्ण स्थिति में हास्य-विनोद का अवसर नहीं मिलता है। इनके नाटकों में दो प्रकार के विदूषक हैं—एक हैं प्रकृति से परिहासी तथा विवादी जो नाटक कार द्वारा निर्मित हैं, दूसरे संस्कृत परिपाटी के अनुसार स्वतंत्र रूप से विदूषकों की स्थापना हुई है। प्राचीनकाल में हास्योत्पत्ति के लिए इसी प्रकार के विदूषक रखे जाते थे, जिसका उल्लेख भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है—

वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजन्मा विकृताननः।
खलतिः पिङ्गलाक्षः स विधेयो विदूषकः॥

—नाट्यशास्त्र]

अजातशत्रु का वसन्तक दूसरे प्रकार का विदूषक है। इस नाटक की कथा से वसंतक का कोई विशेष सम्पर्क या संबंध नहीं है बल्कि वह सिर्फ उदयन की रानी पद्मावती, मगध की राजकुमारी का एक संदेशवाहक है।

---

३ कामना—जयशंकर प्रसाद

हाँ, हमने ऊपर यह संकेत किया है कि विदूषक जाति का ब्राह्मण होता है। इसके मुख्य दो कारण हैं। सर्वप्रथम वह सम्राटका चर तथा विश्वसनीय सहचर होता है। 'वह बहुत ही तीक्ष्ण बुद्धि और तत्काल उत्तर देकर चित्त में बिजली दौड़ा देने की शक्ति रखता' है क्योंकि वह विद्या, बुद्धि तथा विवेक की त्रिवेणी है जिसके हेतु उसकी संगति से सम्राट को अनेक अवसरों पर अधिक लाभ होता है। 'ऐसा नहीं कि भारत में और संस्कृत-नाटकों में ही, प्रत्युत इस विदूषक के दर्शन हमें पाश्चात्य जगत में भी कई रूपों में होते हैं। राजाओं के दरबार के मोटले फूल यही विदूषक हैं'। दूसरी बात यह है कि ये विदूषक संस्कृत नाटकों के विदूषकों की सन्तान हैं। संस्कृत नाटकों में भी जो विदूषक रहते हैं वे भी राजा के विश्वसनीय एव अन्तरंग सहचर होते हैं। परन्तु उनके कार्यों को सफल दिखलाने के लिए उनका 'पेट पीटना' दिखाया जाना अनिवार्य हो जाता है। वास्तव में राजा के अंतरंग मित्र का पेट पीटना कम हास्यास्पद नहीं है। नाटकों के धार्मिक मूल पर विचार विनिमय करते हुए कीथ महोदय ने विदूषक के सम्बन्ध में लिखा है कि –

For the religious origin of the drama a further fact can be adduced the character of the vidusaka, the donstant and trusted companion of king, who is the normal hero of an Indian play. The name denotes him as given to abuse, and not

rarely in the dramas he and one of the attendants on the queen engage in contests of acrid repartee, in which he certainly does not fare better'.

-Sanskrit Drama: Keith]

इस प्रकार का विचार उन्होंने राजा शेखर की कपूरमंजरी के विदूषक के आधार पर निर्मित किया है। बात जो भी हो, पर विलसन तथा कीथ जैसे संस्कृत विद्वानों ने इस तथ्य पर आश्चर्य प्रदर्शन किया है । उन लोगों ने आश्चर्य इसलिए प्रकट किया कि ब्राह्मण ही विदूषक क्यों रखा गया ! क्या कोई दूसरी जाति का व्यक्ति उस योग्य न था। वस्तुतः यही ब्राह्मण विदूषक हास्य के सृजन में बहुत ही सहायता प्रदान करता है क्योंकि उच्चवंश का समादृत ब्राह्मण होने के कारण जब वह रंगमंच पर गौरव हीन और अविवेकमय आचरण का निर्दर्शन करता है तब उसके चरित्र की विकृति पर आश्रित वैचित्र्य के हेतु हम ठठाकर हंस पड़ते हैं । विदूषक वसन्तक भी कुछ ऐसा ही ब्राह्मण है जो हमें बीच-बीच में हंसाने का स्तुत्य प्रयास करता है । कपूरमंजरी में राजशेखर का विदूषक जब कविता करता है तो इसमें सन्देह नही रहता कि वह जान बूझकर ऐसी भद्दी रचना कर रहा है । कविता करते हुए भी उसका कथन 'मुझे जिसको काला अक्षर भैंस बराबर' और अन्य सभी बातें विचित्र प्रतीत होती है, पर गंभीरता न होने के कारण आश्चर्य में डाल कर मन में गुदगुदी उठाकर हँसी की रेखा खींच देती है। यही तथ्य विदूषक के पेटूपन में है। वैसे तो पेटूपन स्वार्थ चिन्तन की

ओर ही संकेत करता है, और नाटकमें जीवन-संग्राम के एक विशिष्ट आवेशमय भाग के चित्रण में पेटूपन की पुकार जगत् की मधुर माया के अमर व्यापार की ओर भी मनुष्य का ध्यान आकर्षित कर लेती है। संसार में केवल प्रेम या लड़ाई ही एक सत्य नहीं, 'पेट' भी एक अनिवार्य सत्य है! इस दार्शनिक समीक्षा के साथ भी राजा के अन्तरंग (मित्र) विदूषक का 'भूखे' और 'भूखे' चिल्लाना—हर बात में पेट का रूपक लगाना सचमुच हँसी का कारण होता है। जो सबका अन्नदाता, जिसके साथ किसी बात की कमी नहीं, भोजन भी जहाँ विविध-व्यंजनपूर्ण—उसी राजा का मित्र पेट पर हाथ धरे और लड्डुओं के लिए लार टपकाये—क्या यह हँसी का कारण नहीं ? इसमें एक वैचित्र्य है, जो स्वार्थीपन की निर्मम नीचता की अतृप्त आकांक्षा पर आक्षेप करता है—उसके चिर असंतोष की ओर संकेत करता है। विदूषक को हमने इस रूप में समझा है। वास्तव में कलात्मक हास्य की कसौटी पर यह कहां तक खरा उतरता है, इस पर हम यहाँ कुछ नहीं कहना चाहते, और न यही कहना चाहते हैं कि संस्कृत-नाटकारों के समक्ष 'हास्य' का रूप क्या था'। ४ इस प्रकार के पेटू विदूषक प्राकृत और संस्कृत नाटकों में भी विद्यमान है। उदाहरण-स्वरूप 'अविरामक', 'मृच्छकटिक', 'रत्नावली', 'नागानन्द' आदि नाटकों के विदूषक ऐसे ही हैं। 'अजातशत्रु' में विदूषक भी कम पेटू नहीं है, इसके पेटूपन का दृष्टान्त आगे आता है।

साहित्य की झाँकी,—प्रो० सत्येन्द्र पृ० सं० १२२

'एक शब्द काँमिक—हास्य—के वारे में लिखना है। वह यह कि वह मनोरंजिनी वृत्ति का का विकास है। जिस जाति में स्वतंत्र जीवन की चेष्टा है वहीं इसके सुगम उपाय और सभ्य परिहास दिखाई देते हैं। परन्तु यहाँ रोने से फुरसत नहीं, विनोद का समाज में नाम ही नहीं फिर उसका उत्तम रूप कहाँ से दिखाई दे। अंगरेजी का अनुकरण हमें नहीं रुचता, हमारी जातीयता ज्यों-ज्यों सुरुचि-संपन्न होगी वैसे-वैसे इसका शुद्ध मनोरंजनकारी विनोदपूर्ण और व्यंग्य का विकास होगा। क्योंकि परिहास का उद्देश्य भी संशोधन है, साहित्य में नवरसों में यह एक रस है, किन्तु इस विषय की उत्तम कल्पनायें वहुत कम हैं। आजकल पारसी रंग मंच वाले एक स्वतंत्र कथा गढ़कर दो तीन दृश्य में फिर नाटक में जगह-जगह उसे भर देते हैं जिससे कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि अतीव दुखद दृश्य के वाद ही एक फूहड़ हँसी का दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है, जिससे जो कुछ रस वना हुआ रहता है, वह लुप्त होकर एक वीभत्स रसाभास उत्पन्न कर देता है। इसका परिपाक पूर्ण रूप से होने नहीं पाता और मूल कथा के रस को वार वार कलुषित करके दर्शकों को देखना पड़ता है। अंत में नाटक देख लेने पर एक उत्सव वा तमाशा का दृश्य ही आँख में रह जाता है। शिक्षा का—आदर्श का—ध्यान भी नहीं रह जाता। इसलिये हम ऐसे कामिक के विरुद्ध हैं।' ५—नाटककार 'प्रसाद' के ये विचार और सिद्धान्त विचारणीय हैं। वे नाटकों में 'हास्य' का विकृत रूप देना नहीं चाहते थे क्योंकि उनके नाटकों में जटिलताओं एवं विरोधमय

---

५ 'विशाख' की भूमिका : प्रथम संस्करण, पृ० सं० १०-११।

अवसरों का सन्तुलित समन्वय रहा। इस कोटि के नाटकों में हास्य का सृजन करना सरासर भूल है। अगर उसमें हास्य की हल्की रेखा खिंच गई तो वह भूल नहीं है। इन्हीं सब वजहों से प्रसाद के नाटकों में हास्य का नितान्त अभाव रहा। हाँ, इसमें व्यंग्य की तीव्रता, मार्मिकता तो है, पर वह गंभीर और अस्पष्ट इतना है कि उससे हास्य-विनोद की उद्भावना ही नहीं होती। इसीलिये कवि प्रसाद के नाटकों में हास्य की क्षीण एवं अस्पष्ट रेखाओं का अंकन रहे, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। वह अपने सिद्धान्त की परिमित सीमा के बाहर नहीं गया है। सुतरां, अकृत्रिमता, अस्वाभाविकता एवं नीरसता प्रकट हो तो प्रसाद दोषी ठहराये नहीं जा सकते हैं क्योंकि लेखक ने स्वयं अपना विचार प्रकट कर दिया है।

'अजातशत्रु' में हास्योद्रेक के लिए गमध सम्राट का जमाता कौशाम्बी-नरेश उदयन का विदूषक वसंतक चुना गया है। वह प्राचीन नाटकों के विदूषकों की तरह इस नाटक में आया है। वसन्तक राजा का अन्तरंग मित्र नहीं है बल्कि वह पद्मावती का सन्देशवाहक है। उसके हास्य-विनोद के आधार के लिए मगध का राजवैद्य और सम्राट का साथ जीवक के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। इस नाटक में तीन अंक हैं और प्रत्येक अंक में एक दृश्य वसन्तक के लिये है। वस्तुतः इसमें विदूषकों का प्रयोग उद्देश्य पूर्ण है क्योंकि नृपों एवं राजकुमारों के अंतरंग मित्र के रूप में रहकर स्वच्छन्दतापूर्वक राज-परिवार-संबंधी विभिन्न घटनाओं तथा मनो-वृत्तियों की आलोचना करना, अभीष्ट सिद्धि में सहायता प्रदान

करना, समय-समय पर प्रधान कथा के प्रवाह को क्रममय रखना, विनोदपूर्ण व्यंग्यों से जनता का मनोरंजन करना और कुछ ऐसे प्रसंगों को अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप में सूचना देते जाना, जो कथा प्रवाह से छूट गए हों आदि कार्य न्यस्त हुए हैं। यही सब कार्य इनकी विशेषतायें हैं। कहीं कहीं विदूषक पूर्ववर्ती तथा भविष्य में घटनेवाली घटनाओं का भी संकेत करता है। इसीलिए उन्होंने अपने विदूषक वसन्तक का उपयोग 'अजातशत्रु' में किया है। कथा के साथ वसन्तक काया और छाया की भाँति लगा हुआ है, इसी में उसकी स्वाभाविकता, रोचकता, सुन्दरता एवं प्रकृत्व है। यह तो हुई विदूषक की बात।

हास्योद्रेक के लिए विकृत रूप, वेश, संकेत, चरित्र, परिस्थिति एवं उक्तियों की सहायता ली जाती है। ये सब हास्य की उत्पत्ति होने के मोटे मोटे मुख्य कारण हैं। फिर भी परिस्थिति - निर्माण एवं उक्तियों का अधिक महत्व है क्योंकि पाठकों के हृदय पर इसका प्रभाव चिरस्थायी रहा करता है। शब्दों और वाक्यों के प्रयोग के भिन्न-भिन्न ढंग हैं। उसके भिन्न-भिन्न नाम भी हैं यथा—श्लेष, वक्रोति (Hieghtened tone), वाक्यवृत्ति (Manneresim) विरोधाभास (Paradox) आदि। इनमें वाक्यवृत्ति की मुख्यता अधिक है और इनके नाटकों में यही पाया जाता है।

'अजातशत्रु' में विदूषक का सर्वप्रथम आगमन प्रथमअंकके छठे दृश्य में होता है। यहाँ पर उसकी उपस्थिति समयानुकूल एवं साभिप्राय है। कौशाम्बी के राजकुल के अंदर जो-जो घटनाएँ घट रही हैं,

उसकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान हमें वसन्तक जीवक के साथ बात-चीत से कराता है। इसके पूर्ववर्ती उदयन और मागन्धी के बीच जो वार्त्तालाप का आयोजन हुआ है उसकी ओर भी संकेत है तथा जीवक को आप ही आप जिज्ञासा होती है जिसका समाधान वसन्तक आगे करता है। जीवक कहता है—'सुना है कि कई दिन से पद्मावती के मंदिर में उदयन जाते ही नहीं और व्यवहारों से कुछ असन्तुष्ट से दिखाई पड़ते हैं'। --(अंक १ दृश्य ६)

इसके अनन्तर जब वसन्तक आकर यह कहने लगता है—'अहा वैद्यराज! नमस्कार। बस एक रेचक और थोड़ा-सा वस्ति-कर्म्म-इसके बाद गर्मी- ठंढी! अभी आप हमारे नमस्कार का भी उत्तर देने के लिए मुख खोलिये। पहले रेचक प्रदान कीजिये। निदान में समय नष्ट न कीजिये'।--(अंक १ दृश्य ६)

इस अवतरण में एक विशेष प्रकार की शब्दावली और वाक्य-योजना के द्वारा हास्योद्रेक की चेष्टा की गई है। इसमें वैद्यक के कुछेक परिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे संवाद में एक चमक आ गई है, पर साधारण पाठक को इन शब्दों का मूल अर्थ समझना टेढ़ी खीर है। 'थोड़ा सा वास्तिकर्म-इसके बाद गर्मी-ठंढी' में वस्तुओं के विरोध से हास्य की उत्पत्ति हुई है। वसन्तक के आने से जीवक का आन्तरिक हृदय झुंझला उठता है और कहता है—'यह विदूषक इस समय कहाँ से आ गया। भगवान किसी तरह हटे।' जिस प्रकार जीवक के मन में वसन्तक के प्रति झुंझलाहट है, उसी प्रकार कथा-प्रवाह के बीच ऐसे विदूषक

आ जाते हैं तो दर्शक की इच्छा होती है कि वह शीघ्र ही रंगमंच से दूर हो जाय।

वसन्तक फिर कहता है—'अजी, अजीर्ण है अजीर्ण। पाचन देना हो दो, नहीं तो हम अच्छी तरह जानते हैं कि वैद्य लोग अपने मतलब से रेचन तो अवश्य हीं देंगे। अच्छा, हाँ कहो तो, बुद्धि के अजीर्ण में तो रेचन ही गुणकारी होगा ? सुनो जी, मिथ्या आहार से पेट का अजीर्ण होता है और मिथ्या विहार से बुद्धि का। किन्तु महर्षि अग्निवेश ने कहा है कि इसमें रेचन ही गुणकारी होता है। (हँसता है)······सुना है कि धन्वन्तरि के पास एक ऐसी पुड़िया थी कि बुढ़िया युवती हो जाय और दरिद्रता का केंचुल छोड़कर मणिमयी बन जाय ! क्या तुम्हारे पास भी—उहूँ—नहीं है ? तुम क्या जानो'।

विचारा जीवक वसन्तक की बातों को नहीं समझता है और उसकी ये सब बातें एक रहस्य-सी प्रतीत होती हैं। तब वह लाचार होकर पूछता है—'तुम्हारा तात्पर्य्य क्या है ? हम कुछ न समझ सके।'—(अंक १ दृश्य ६)

वास्तव में साधारण पाठक या दर्शक भी जीवक की भांति कुछ समझ नहीं पाते हैं। इसमें हमें क्लिष्ट साम्यों पर आधारित विवाद का दर्शन होता है, जो माथापच्ची करने की प्रेरणा देता है—यहीं पाठक और दर्शक का मन खीझ उठता है और कह उठता है—'पट व्यर्थ है'।

हाँ, इसके पूर्व जीवक ने जो जिज्ञासा की थी, उसका समाधान वसन्तक इस स्थल पर करता है—'केवल खलबट्टा चलाते रहे और

मूर्खता का पुटपाक करते रहे। महाराज ने एक नई दरिद्र कन्या से व्याह कर लिया है, मिथ्या विहार करते-करते उन्हें बुद्धि का अजीर्ण हो गया है। महादेवी वासवदत्ता और पद्मावती जीर्ण हो गई हैं, तब मेल कैसे हो? क्या तुम उन्हें अपनी औषध उस विवाह करने के समय की अवस्था का नहीं बना सकते, जिसमें महाराज इस अजीर्ण से बच जाँय?'—इस स्थल पर हास्य शब्दों पर अवलम्बित हैं।

शेक्सपियर के 'क्लाउन' या 'वफून' की तरह प्रसादजी का विदूषक वसन्तक भी है और वह अपने महाराज उदयन मगध-नरेश की व्यंग्यात्मक आलोचना भी करता है—'उसमें तो गुरुजनों का ही अनुकरण है। श्वसुर ने दो व्याह किये, तो दामाद ने तीन। कुछ उन्नति ही रही'। तब जीवक कहता है—'दोनों अपने कर्म के फल भोग रहे हैं। कहो, कोई यथार्थ बात भी कहने सुनने की है या यही हँसोड़पन?' वसन्तक जीवक की बेचैनी, व्यग्रता एवं घबड़ाहट देखकर उसकी शान्ति के लिए परवर्ती घटनाओं का पूर्वाभास करता है—'बड़ी रानी वासवदत्ता पद्मावती को सहोदरा भगिनी की तरह प्यार करती है। उनका कोई अनिष्ट नहीं होने पावेगा। उन्होंने ही मुझे भेजा है और प्रार्थना की है कि आर्य-पुत्र की अवस्था आप देख रहे हैं, उनके व्यवहार पर ध्यान न दीजियेगा। पद्मावती मेरी सहोदरा है, उसकी ओर से आप निश्चिन्त रहें। कोशल से समाचार भेजियेगा। नमस्कार।'—इस प्रकार विदूषक वसन्तक सन्देशवाहक का कार्य सम्पन्न करता है।

इस अङ्क में नाटकार ने 'मूर्खता का पुट ..., [illegible]
आदि शब्दों के द्वारा हास्य का सृजन करने का प्रयास किया है। परन्तु यथार्थ में हमें हँसी नहीं आती है बल्कि हँसी आने के बजाय माथे में दर्द होने लगता है। इसी प्रथम अंक के तीसरे दृश्य में हास्योत्पत्ति के लिए यथोचित आंगिक अभिनय का सहारा लिया है। हार्दिक मनोभाव एवं कथन के विरोध से उत्पन्न हास्य का एक दृष्टान्त देखिये—

देवदत्त-(कुछ बनता हुआ)—' यह झंझट भला मुझ विरक्त से कहाँ होगा। फिर भी लोकोपकार के लिए तो कुछ करना ही पड़ता है।'—(अङ्क १ दृश्य ३)

इसके अनन्तर वसन्तक का दर्शन द्वितीय अंक के नवें दृश्य में होता है। यहाँ भी वसन्तक और जीवक है। इस दृश्य के हास्य में कोई खास विशेषता नहीं है। यहाँ पर वसन्तक और जीवक के बीच जो कथनोपकथन है, उससे ज्ञान होता है कि राजा के समीपवर्ती और सहचर जीवक की ही आलोचना है।

वसन्तक—(हँसता हुआ)—तब इसमें मेरा क्या दोष ?

जीवक—जब तुम दिन-रात राजा के समीप रहते हो और उनके सहचर बननेका तुम्हें गर्व है, तब तुमने क्यों नहीं ऐसी चेष्टा की—

वसंतक—कि राजा बिगड़ जायँ ?

जीवक—अरे बिगड़ जायँ कि सुधर जायँ। ऐसी बुद्धि को……

वसन्तक—धिक्कार है, जो इतना भी न समझे कि राजा पीछे चाहे स्वयं जायँ अभी तो हमसे बिगड़ जायँगे।

जीवक—तब तुम क्या करते हो ?

वसन्तक—दिन-रात सीधा किया करते हो। बिजली की रेखा की तरह टेढ़ी जो राजशक्ति है उसे दिन रात सँवार कर, पुचकार कर, भयभीत होकर, प्रशंसा करके सीधा करते हैं। नहीं तो न जाने किस पर वह गिरे! फिर महाराज! पृथ्वीनाथ! यथार्थ है! आश्चर्य! इत्यादि के क्वाथ से पुटपाक……।

वसन्तक की उक्ति सुन जीवक मन ही मन खीझ उठता है। इसपर जीवक कहता है—'चुप रहो, बको मत, तुम्हारे ऐसे मूर्खों ने ही तो सभा को बिगाड़ रक्खा है। जब देखो परिहास!'

वसन्तक—परिहास नहीं अट्टहास। उसके बिना क्या लोगों का अन्न पचता है। क्या बल है—तुम्हारी बूटी में? अरे! जो मैं सभा को बनाऊँ; तो क्या अपने को बिगाड़ूँ? और फिर झाडू लेकर पृथ्वी देवता को मोरछल करता फिरूँ? देखो न अपना मुख आदर्श में—चले सभा बनाने, राजा को सुधारने! इस समय तो……

यहाँ पर का सारा हास्य वाक्य-योजना एवं विरोध-जनित उक्तिपर निर्भर है, न कि आंगिक अभिनय पर। यह विरोध-जनित

हास्य है क्योंकि झाड़ू से मोरछल तथा पृथ्वी देवी से पृथ्वी देव का विरोध है। यही निर्दर्शन हुआ है। उसने फिर झाड़ू देता फिरूँ न कह कर पर्य्यायोक्ति के द्वारा (फिर झाड़ू लेकर पृथ्वी-देवता को मोरछल करता फिरूँ ?) जो बात कही है, उसमें से एक 'ध्वनि' निकलती है। यही हास्योद्रेक में सहायक है। हां, इस नवे दृश्य का महत्त्व सिर्फ वसन्तक की एक उक्ति पर अवलम्बित है। वह यह कि उसने परवर्ती घटनाओं एवं परिस्थितियों की सूचना दी है—'पद्मावती देवी ने कहा कि आर्य! जीवक से कह देना कि अजात का कोई अनिष्ट न होने पावेगा; केवल शिक्षा के लिए यह आयोजन है। और माताजी से विनती से कह देंगे कि पद्मावती बहुत शीघ्र उनका दर्शन श्रीवास्ती में करेगी।

—अंक २ दृश्य ६]

और इसी दृश्य में वसन्तक ने अपने पेटूपन की याद दिलायी है। वस्तुतः यह भास की कोटि के विदूपक की तरह है पर दोनों में अन्तर यह है कि भास का विदूषक राजा का अंतरंग मित्र है, पर अजातशत्रु का विदूषक वसन्तक पद्मावती के दूत की तरह है। यहां पर उसका पेट पीटना कम हास्यास्पद नहीं है—यह कुछ हल्का हास्य है जो साधारण जनता की रुचि के अनुकूल प्रतीत होता है। वसन्तक युद्ध का होना ध्रुव बतलाते हुए कहता है—'......आक्रमण हुआ ही चाहता है। महाराज बिम्बसार की समुचित सेवा करने अब यहां हमलोग आया ही चाहते हैं, पत्तल परसी रहे—समझे न ?'

जीवक—'अरे पेटू ! युद्ध में तो कौवे गिद्ध पेट भरते हैं ?'

वसन्तक—'और आपस के युद्ध में ब्राह्मण भोजन करेंगे—ऐसी तो शास्त्र की आज्ञा ही है क्योंकि युद्ध में तो प्रायश्चित लगता है। फिर बिना, ह-ह-ह-ह……।

इस प्रकार की उक्ति से हम ठठाकर हँस उठते हैं और इस प्रकार हम देखते हैं कि यहां पर उनका हास्य परम्परानुकूल एवं गतानुगत है। वसन्तक का 'व्यंग्य अथवा हास्य भी जीवन का मखौल उड़ाने तक ह-रहो जाता है। न जाने किस दैव-संयोग से वैद्यों अथवा डाक्टरों की बड़ी धून-दक्षिणा की जाती है। उन्हीं में प्रायः सभी देश के नाट्यकारों सैटायरिस्टों को अपने हास्य के लिए सामग्री मिलती है। फ्रांस के प्रसिद्ध मौलियर, बंगाल के अद्वितीय द्विजेन्द्र इन डाक्टरों की खिल्ली उड़ाने से नहीं चूके—वही खिल्ली प्रसादजी ने जीवक की उड़ायी है। पर वह बिल्कुल अनैतिहासिक विद्रूप तथा पात्र के गौरव के सर्वथा प्रतिकूल हो गयी है। इतिहास में जीवक अपने कोशल के लिए अपने समय का अद्वितीय माना गया है, जिसने भगवान बुद्ध तक की चिकित्सा की, जो बिंबसार का राजवैद्य था—उसकी विदूषक रेचक और पाचक में ही हँसी उड़ा ले और वह चुप सुनता रहे। यह इतिहास-ज्ञान की अपूर्णता होने के कारण संभव हो सकता है, अथवा असहृदयता के कारण यहां दूसरी बात की संभावना है! हास्य में जब सहृदयता का लोप हो जाता है, सत्संवेदना का अभाव रहता है तो उसका प्रवाह-क्षुब्ध ही नहीं हो जाता वरन् वह शुष्कता का एक अगम्य मरुस्थल हो जाता है *। विदूषक नाम से ही पाठक

---

*(i) In order to be a humorist, you must have a

अथवा श्रोताओं के हृदय में जो उत्सुकता हो जाती है, यदि वह पूरी तरह संतुष्ट नहीं हो पाती, तो उसका चित्रण सफल नहीं कहा जा सकता – वहां नीरसता एवं शुष्कता का आभास मिलता है।... अतः इनके विदूषकों में न तो कोई व्यंग्य करने में विशेष चतुर हैं, न हास्य उपस्थिति करने में ही। बस वे एक अनुचरमात्र हैं। अतः संस्कृत-विदूपक के वे ऐतिहासिक भग्नावशेष हैं, जिन्हें देखकर विगत-च्युत वैभव को याद ही आ सकती है, मनोरंजन नहीं हो सकता।' ६

तदनन्तर, तीसरे अंक के छठे दृश्य में वसन्तक का प्रवेश नाटककार ने अकेले कराया है। यहाँ पर वह प्रधान कथा के टूटे हुए प्रवाह के क्रम को ठीक करता है। वसन्तक के आने के पूर्व दो नागरिकों के वार्त्तालाप द्वारा—गौतम बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त की मृत्यु, कोशल के राजकुमार का पुनः युवराज बनाया जाना तथा

---

needle eye for the in cougruities, the pretentions, the in consistencies, all the idiocies and antics of life but you must also have—strange and contradictory as it may seem an unusual quickness and warmth of Feeling, an instant affection for all that is loveable.—English Humorists.

(ii) The humour of character is a tender mockery for wnich a balance between sympathy and antipathy is needed.

६. साहित्य की झाँकी प्रो० सत्येन्द्र एम ए.

मगधराज के अजातशत्रु से कोशल राजकुमारी वाजिरा से विवाह की सूचना-दी जाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर वसन्तक का प्रवेश मागन्धी के जीवन के एक नये अध्याय का परिचय देने के लिये हुआ है। वह कहता है-- फटी हुई बाँसुरी भी कहीं बजती है। एक कहावत है कि रहे मोची के मोची। यह सब ग्रहों की गड़बड़ी है, ये एक बार ही इतना बड़ा कांड उपस्थित कर देते हैं। कहां साधारण ग्राम्य बाला—हो गई थी राजरानी! मैं देख आया— वही मागन्धी ही तो है। अब आम की बारी लेकर बेचा करती है और लड़कों के ढेले खाया करती है। ......महाराज ने वैवाहिक उपहार भेजे थे सो अब तो मैं पिछड़ गया। लड्डू तो मिलेंगे। अजी बासी होगा तो क्या—मिलेंगे तो'—इतना कहकर वह चला जाता है। यहाँ पर फिर उसी प्राकृत और संस्कृत नाटकों के पेटू की याद आ जाती है। ठीक इसी प्रकार का एक पात्र मुद्‌गल 'स्कन्द गुप्त' में भी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गंभीरता के कारण प्रसाद का हास्य कुंठित हो गया है। 'अजातशत्रु' में, श्री शिखरचंद जैन के शब्दों में—'हास्य एक कोने में दबा पड़ा है। प्रसाद जी ने इसमें हास्य की सृष्टि के लिए वसन्तक वैद्य को चुना है। इसलिये हास्य वैचित्र्य तो मिलता है किन्तु 'रेचक' 'मूर्खता का पुटपाक' और 'बुद्धि का अजीर्ण' द्वारा जो हास्य है उसे हास्य न कह कर विनोद के कुछ कण कहना ही उपयुक्त होगा'। प्रो० रामकृष्ण शुक्ल के अनुसार 'वसन्तक के 'ऐ', किन्तु', 'परन्तु' या 'बुढ़िया को जवान बनाने वाली धन्वन्तरि की पुड़िया में कोई चुस्ती या स्फूर्ति नहीं मालूम

होती' क्योंकि इस प्रकार के हास्य में सहृदयता एवं सहानुभूति का नितान्त अभाव है। इसीलिये इन पात्रों की बातों में हास्य नहीं वल्कि उसमें नीरसता एवं शुष्कता का संयोग है।

'अजातशत्रु' में उत्कृष्ट हास्य का अभाव क्यों है? जिसके उत्तर में कुछ कारण प्रस्तुत किये जाते हैं—

(क) 'अजातशत्रु' एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें अतीत की टूटी लड़ियों को एक सूत्र में गूंथा गया है। इतिहास में कल्पना स्वतंत्र गति से उड़ नहीं सकती है और इस प्रकार के नाटक में समकालीन वातावरण उपस्थित करना पड़ता है। इसीलिए हमें ऐसे पात्रों को रखना पड़ता है जिसका इतिहास से कुछ संबंध अवश्य हो। यह नाटक 'संघर्ष के संधियुग' की वस्तु है जिसमें हास्य-विनोद का पाया जाना अस्वाभाविक है क्योंकि हास्य-विनोद शान्ति-युग की वस्तु है।

(ख) अजातशत्रु के पात्र दार्शनिक हैं और उनके वार्त्तालाप में दार्शनिक सिद्धान्त भरे पड़े हैं। वे सिद्धान्त गभीर तत्वों से अनुप्राणित हैं जिसके कारण इसमें हास्य सुन्दर नहीं बन पड़ा है।

(ग) अजातशत्रु की भाषा कवित्वमय है। भाव की दार्शनिकता के कारण भाषा क्लिष्ट हो गई है और भाषा की क्लिष्टता ही हास्य-विनोद की स्वाभाविक प्रकृति के विरुद्ध है। इसलिए भाषा की दृष्टि से यह सबसे कठिन नाटक है, जिसमें समुचित हास्य का पूर्ण अभाव है।

(घ) प्रसादजी ने अपने जीवन में नैराश्य को देखा और इसीलिए उनमें पलायन-मनोवृति का आगमन हुआ। इसीके फल-स्वरूप वर्त्तमान को भूलने लगे और प्राचीन-प्रिय हो गए। इसी असंतोष-भावना के कारण उन्होंने इतिहास का दामन थाम कर 'अजातशत्रु' की रचना की। इसमें जीवन के गहनतम प्रश्नों का समाधान हो पाया है। यही कारण है कि इसमें हास्य-विनोद को फलने-फूलने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। हम कवि 'द्विज' के शब्दों में कह सकते हैं—

"कैसे हँसू? हँसानेवाले अपने अब अपने न रहे।
सुख देनेवाले वे मेरे सोने के सपने न रहे॥
रहे न वे अरमान हिये में हुलसित आज़ हुलास नहीं।
अश्रु-विभव को छोड़ हाय कुछ भी तो मेरे पास नहीं॥

बात भी सत्य है। अभी हास्य के सृजन करने का समय हमारे लिए बहुत दूर की वस्तु है।

अजातशत्रु की भाषा-शैली

साहित्य का प्रत्येक लेखक अपनी मनोगत भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का आश्रय ग्रहण करता है और जब हम किसी भी कलाकार की रचनाओं का अध्ययन करते हैं तब हमें उसकी भावाव्यक्ति-प्रणाली शब्द-चयन तथा वाक्य-रचना और विषय-प्रसंग को देखना पड़ता है। यही वस्तु साहित्य में क्रमशः शैली, भाषा और विषय के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें से भाषा और शैली का महत्व अधिक है।

प्रसाद जी हिन्दी के एक कुशल नाटककार हैं फिर भी उनके नाटकों के अभिनय एवं उसकी भाषा-शैली के सम्बन्ध में लोगों का अपना अपना विचार है। इसके पक्ष और विपक्ष में भिन्न भिन्न तर्क (argument) सन्निहित हैं। डा० नगेन्द्र ने तो प्रसाद जी की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है — 'उनकी अपरिवर्तनशील-गंभीर भाषा में अभिनयोचित चांचल्य नहीं है।'१ डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा' एम० ए०, डी० लिट० ने उनकी भाषा के सम्बन्ध में उदार विचार प्रस्तुत किया है, वे लिखते हैं कि 'जहाँ तक तत्सम शब्दों के बाहुल्य की बात है अथवा तत्कालीन प्रयुक्त पदावली का सम्बन्ध है वहां तक तो ठीक ही है। मतभेद केवल भावप्रधान और अलंकार बहुल लम्बे वाक्यों का है। इनके कारण सम्वाद की गति तो बाधित होती ही है शीघ्र

१ आधुनिक हिन्दी नाटक— पृ० सं० १६

अर्थ बोध में भी व्याघात पड़ता है, जो कभी अनुकूल नहीं कहा जा सकता'। २ प्रो० विश्वम्भर 'मानव' ने लिखा है कि 'प्रसाद की भाषा पर दुरूहता का आरोप न करके अनुपयुक्तता का आक्षेप होना चाहिए, । ३ श्रीव्रजरत्न दास का कथन हैं कि भाषा प्रौढ़ तथा प्रांजल है पर भावुकता में फंसी हुई है। ऐसी भाषा सभी प्रकार की साहित्यिक कृतियों में समान रूपेण उपादेय नहीं है। नाटकों में सहज सुगम भाषा ही अपेक्षित है।'४ प्रो० राम-कृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' के अनुसार-'वास्तव में उनके सबसे कठिन नाटक अजातशत्रु में दस-बारह स्थलों को छोड़ कर अन्यत्र बहुत अधिक क्लिष्ट भाषा नहीं मिलती।'५ इसी प्रकार किसी ने उनकी भाषा को 'दुरूह गहन एवं दुर्लघनीय' किसी ने कोमल कंकरीली' किसी ने संस्कृत के भार से अतिशय बोझिल' की संज्ञा प्रदान की है। ये जो ऊपर विचारों की तालिका प्रस्तुत की गई है, वह कुछ हद तक यथार्थ है! यह तो सर्वमान्य है कि प्रसाद जी का हृदय सर्वप्रथम कवि हृदय है तब कुछ और। यही कारण है कि उनके प्रत्येक नाटक में काव्यात्मक चमत्कार का निर्दर्शन है। हाँ अगर हम उनकी भाषा शैली से पूर्णतय परिचित होना चाहते हैं तो प्रसादजी के निजी विचार से भिज्ञ होना अनिवार्य है। उन्होंने नाटकों की भाषा के सम्बन्ध में अपने रंगमंच शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि—

---

२ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन पृ० स० ३००

३ खड़ी बोली के गौरव-ग्रन्थ—पृ० स० १५

४ हिन्दी नाट्य साहित्य—पृ० स० १८८

५ प्रसाद की नाट्य कला।

'मैं तो कहूंगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए: किन्तु इसके लिए भाषा की एकतंत्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।,[६]

वस्तुतः प्रसाद जी का कथन बहुत अंशों में सत्य है और हमें उनकी विचारधारा दृष्टि में रहते हुए ही समीक्षा करनी चाहिए।

'अजातशत्रु' की कथा वस्तु बौधकालीन युग से ली गई है, जिसमें मगध-सम्राट् बिम्बसार के सिंहासनावरोहन और उनके पुत्र अजातशत्रु के विद्रोहों आदि का उल्लेख हुआ है। वह युग इतिहास का भव्य युग है। यह तो चरम सत्य है कि नाटक मानव समाज की सच्ची प्रकृति है, जिसमें समाज की झांकी रहती है। जब इस दृष्टि से नाटक की ओर दृष्टि निपात करते हैं तब उसमें तत्कालीन संस्कृति की उदात्त झांकी की झंकार पाते हैं और यह रहना भी चाहिए। युग के अनुकूल नाटक की भाषा शैली होनी चाहिए। क्योंकि तत्कालीन वातावरण के भव्य-विचारों के प्रकाशन-निमित्त भव्य भाषा की अनिवार्यता होती है।

---

६ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० सं० ७६

नाटक की भाषा के भव्य होने का दूसरा कारण यह है कि 'अजातशत्रु' में दार्शनिक तथा गंभीर भावों की अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकार की भावनाओं की अभिव्यजंना के लिए बाजारू या 'आम फहम' भाषा की अनिवार्यता नहीं क्योंकि 'अभिव्यक्ति के लिए समुचित वाहक भी चाहिए! जो कुछ उनको कहना है वह उससे हल्की वा अन्य शब्दों वाली भाषा में कहा ही नहीं जा सकता।' यही कारण है कि 'अजातशत्रु' के पात्र मन बचन और कर्म से अपने युग के यथार्थ प्रतीक हैं। 'वे न केवल घटना काल के रहन-सहन, चाल-व्यवहार से ही परिचित हैं वरन् तत्कालीन भावाव्यक्ति की शैली और शब्दावली से भी। उन्हें गुणों की गरिमा और स्मृद्धि दोनों प्राप्त हैं। अतः प्रसाद की तत्समता उसका अनिवार्य गुण है क्योंकि उसके सहारे काल-साम्य का निर्वाह होता है।' इसी भाषा की सहायता से 'अजातशत्रु' का युग सजीव होकर स्वयं बोल उठा है।

यह तो स्पष्ट है कि प्रसाद के और नाटकों की तरह 'अजातशत्रु' में भी संस्कृत के तत्सम शब्द हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे जान बूझ कर लाए गये हैं बल्कि उसका भी निश्चित कारण है। वह है लेखक का व्यक्तित्व एवं आर्य भाषाओं का गंभीर तथा विशद अध्ययन। यों तो इस नाटक में भी कुछ शब्द छनकर आ गये हैं, जिनका अर्थ कोष के अभाव में साधारण पाठक नहीं जान सकते, दृष्टान्त स्वरूप—गुप्त प्रणिधि, अतीन्द्रिय, हस्तिस्कन्ध वीणा, वात्याचक्र, विपञ्ची, निकुरम्ब आवर्त्त आदि हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं की नाटक में सरल एवं सुबोध भाषा

का नितान्त अभाव है । अतः हम कह सकते है कि उनकी भाषा अपने प्रतिमान (standard) से नहीं उतरी है और न वह 'फिट की हुई प्रतीत होती है । उन्होंने इस प्रकार के शब्दों का जो प्रयोग किया है उसका मूल कारण यह है कि इन शब्दों के द्वारा अभिलाषित भाव पूर्णरूप से व्यक्त हो जांय । यही कारण है कि हम उनकी भाषा पर दुरूहता का दोष नहीं मढ़ते बल्कि हमारा जो आक्षेप है वह उसकी अनुपयुक्तता पर, जैसा कि 'मानव' ने कहा है—'उनकी कहीं' भी और कैसी हीं पंक्तियाँ हों थोड़ा सोचने से अर्थ निकल ही आता है। दुरूहता एक सापेक्षिक बात है। जो भाषाको दुरूह कहता है वह अपनी अयोग्यता प्रकट करता है ।

हाँ, नाटककार के पास अपने भावों के विनिमय के लिये भाषा को छोड़ कर और कोई दूसरा साधन उपलब्ध नहीं है। अस्तु भाषा और भाव में अन्योन्याश्रय संबंध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भावों के अनुकूल भाषा बनती है और भाषा के अनुकूल भावों की सृष्टि होती है। प्रसाद जी की शैली भावात्मक है, जिसमें हृदय के उद्गार स्वच्छन्द हो कर फूट पड़ते हैं, यथा—

'यदि मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती—पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता—तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता। उस अस्तित्व को अनिस्तत्व

के साथ मिलाकर कितना सुखी होता।'

—अङ्क ३, दृश्य ६ : पृ० स० १७१।

उपर्युक्त अवतरण की भाषा भाव-प्रधान है, परन्तु इसमें क्लिष्टता नहीं। इस प्रकार के अवतरण उस स्थल पर अधिक मिलते हैं जहाँ अन्तर्द्वन्द्व दिखलाया गया है।

दार्शनिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण करते समय उनकी शैली दुरूह एवं क्लिष्ट हो गई है, उदाहरण-स्वरूप बिम्बसार का कथन देखिये—

'आह! जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है और जीवन संग्राम में प्रवृत्ति होकर अनेक अकांड-तांडव करता है। फिर भी प्रवृत्ति उसे अन्धकार की गुफा में ले जाकर उसका शान्तिमय, रहस्य पूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है। किन्तु वह कब मानता है? मनुष्य व्यर्थ महत्व की आकाँक्षा में मरता है, अपनी नीची, किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में उसे सन्तोष नहीं होता, नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या?

—अङ्क १, दृश्य २ : पृ० स० ३२।

इस संदर्भ में जो क्लिष्टता 'जीवन संग्राम' 'अकांड-तांडव' अदृष्ट के लेख' इत्यादि शब्दों के कारण दृष्टिगत होती है उसका मूल कारण है दार्शनिक भावों की गहनता एवं परिपक्वता।

इस संदर्भ में जो भी कठिनाई है, बुद्धदेव के 'सर्व शून्य सर्व क्षणिकं' वाले सिद्धान्त के कारण। अगर पाठक इस सिद्धान्त से पूर्णतय परिचित हो जाय तो शीघ्र ही उसकी कठिनाई दूर हो जाय।

कहीं कहीं भावाव्यक्ति की शैली ऐसी छन कर आ उतरी है कि वे उक्तियाँ भाषा और भाव दोनों ही दृष्टि से कठिन हीं नहीं दुरूह भी है तथा उनमें अलंकृति की अतिशयता भी है--

उदयन--अब मुझे अपने मुख चन्द्र को निर्निमेष देखने दो कि मैं एक अतीन्द्रिय जगत की नक्षत्र-मालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरच्चन्द्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा को लाँघ जाऊँ, और सुरभि-निश्वास मेरी कल्पना का आलिंगन करने लगे।

मागन्धी--यही तो मैं भी चाहती हूँ कि मेरी मूर्च्छना में मेरे प्राण नाथ की विश्वमोहिनी वीणा सहकारिणी हो, हृदय और तन्त्र एक होकर बज उठे, विश्व भर जिसके सम पर सिर हिला दे और पागल हो जाय।

--अङ्क १ दृश्य ५ : पृ० स० ५१।

विरुद्धक--शिशिरकणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था, ऊषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया.........।

--अङ्क १ दृश्य ८ : पृ० स० ६५।

प्रसाद की शैली ओजपूर्ण भी है, जिसके वाक्य छोटे-छोटे

होते हैं और उसमें सुन्दर प्रवाह भी होता है। इस प्रकार की पौरुषपूर्ण शैली को पढ़ने के समय हम शरीर में गर्मी भी महसूस करते हैं, यह नाटककार की लेखनी की कुशलता है---

रानी---देखो, तुम मेरी संतान होकर मेरे सामने ऐसी पोच बात न कहो। दासी की पुत्री होकर भी मैं राजरानी बनी और हठ से इस पद को ग्रहण किया, और तुम राजा के पुत्र होकर इतने निस्तेज और डरपोक होगे, यह कभी मैंने स्वप्न में भी न सोचा था। बालक! मानव अपनी इच्छा शक्ति से और पौरुष से कुछ होता है। जन्म सिद्ध तो कोई भी अधिकार दूसरों के समर्थन का सहारा चाहता है। विश्वभर में छोटे से बड़ा होना यही प्रत्यक्ष नियम है। तुम इसकी अवहेलना करते हो? महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्नि कुण्ड में कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिए काल स्वरूप बनो, साहस के साथ उनका सामना करो, फिर या तो तुम गिरोगे या वे भाग जायेगी, मल्लिका तो क्या, राज लक्ष्मी तुम्हारे पैरों पर लोटेगी। पुरुषार्थ करो! इस पृथ्वी पर जियो तो कुछ जियो, नहीं तो मेरे दूध का अपमान कराने का तुम्हें अधिकार नहीं।

---अङ्क १ दृश्य ८ : पृ० स० ६६-६७।

---यह ओजपूर्ण शैली का सुन्दर उदाहरण है, जिसमें विरुद्धक की माता के हृदय की उत्ताल भावनाओं की फुफकार है।

इसके साथ सरल और व्यावहारिक भाषा का स्वरूप निरूपित कीजिये---

छलना— यह सब जिन्हें खाने को नहीं मिलता उन्हें चाहिये ! जो प्रभु हैं, जिन्हें पर्याप्त है उन्हें किसी की क्या चिन्ता, जो व्यर्थ अपनी आत्मा दबावें ।

वासवी–क्या तुम मेरा भी अपमान चाहती हो ? पद्मा तो जैसी मेरी वैसी ही तुम्हारी, उसे कहने का तुम्हें अधिकार है; किन्तु तुम तो मुझसे छोटी हो, शील और विनय का यह दुष्ट उदाहरण सिखा कर बच्चों को क्यों हानि कर रही हो ?

अंक १ दृश्य १ : पृ० सं० ३१

'संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार पात्रों की स्थिति तथा उनके निवास स्थान के अनुसार उनकी भाषा बदलती है।' ७ परन्तु प्रसाद के प्रत्येक नाटकीय पात्र एक तरह की भाषा का उपयोग करते हैं, ऐसे तो भाषा की परिवर्तनशीलता उनके प्रारंभिक नाटकों में ही दृष्टिगत होती है। इस नाटक में भी कुछ स्थलों पर भावावेश के अनुसार भाषा में परिवर्तन हो गया है, यथा—

उदयन– अभी इसका प्रतिशोध लूँगा ! ओह ! ऐसे पाखंड-पूर्ण आचरण !' असह्य !

–अंक १ दृश्य ५ : पृ० सं० ५३।

प्रसेनजित्– कौन कारायण, सेनापति बन्धुल का भागिनेय ?

–अंक २ दृश्य ७ : पृ० सं० ११०।

---

७. पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ! लिङ्गनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययो क्वचित् ॥ स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च। पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ॥

—दशरूपकम् २-६४-६५।

प्रसादजी छाया-युग के नाटककार रहे हैं, इसीलिए छायावाद की काव्यगत विशेषताओं का पूर्णतः प्रभाव 'अजातशत्रु पर भी है। उन शैलीगत विशेषताओं में एक है— प्रकृति के क्रियाकलाप का भावपूर्ण अंकन। प्रसादजी का हृदय कवि हृदय है और वही हृदय नाटकों में भी उछल पड़ा है। उनके लिए प्रकृति जड़ नहीं चेतन है। उनकी दृष्टि में प्रकृति गत्यात्मक है। प्रकृति भी हम मानव की तरह सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, पाप-पुण्य का अनुभव करती है और वह मानव के सुख-दुःख हर्ष-विषाद का भागी बनती है। प्रसाद के नाटकीय पात्र भी कुछ इसी प्रकार के हैं, वे भी प्रकृति से कुछ सीखते हैं। प्रसादजी ने जड़ एवं चेतन प्रकृति की अनुभूत-भावनाओं की अभिव्यक्ति स्थिति एवं काल के अनुकूल किया है। उन्होंने शब्दों के माध्यम से प्रकृति का सजीव रूप खड़ा कर दिया है, यह नाटककार की एक निपुणता है यथा—

बिम्बसार—संध्या का समीर ऐसा चल रहा है—जैसे दिन भर का तपा हुआ उद्विग्न संसार एक शीतल निश्वास छोड़कर अपना प्राण धारण कर रहा हो। प्रकृति की शान्तिमयी मूर्ति निश्चल होकर भी मधुर झोंके से हिल रही है।.........

-अंक ३ दृश्य ६ : पृ० सं० १७०-७१।

किसी भी नाटक के लिए नाट्यात्मक विन्यास का होना जरूरी है, उसके अभाव में नाटक ही नहीं है बल्कि एक श्रव्य-काव्य बन जाता है। 'अजातशत्रु' में भी नाट्यात्मक विन्यास स्थान-स्थान पर परिलक्षित होते हैं—

दासी-- देवी ! क्या आज्ञा है ?

मागन्धी--- तू ही न गई थी गौतम का समाचार लाने, वह आजकल पद्मावती के मन्दिर में भिक्षा करने आता है न ?

-अंक १ : दृश्य ५ : पृ० सं० ४७ ।

प्रसादजी की शैली की कुशलता उनके व्यंग्यात्मक एवं तर्क-पूर्ण विचारों के उपस्थित करने में छिपी हुई है। एक गंभीर प्रकृति के व्यक्ति के लिए इस प्रकार की शैली में लिखना एक साधना है, तपस्या है और इसमें एक सधा हुआ व्यक्ति ही खरा उतर सकता है। प्रसादजी समय समय पर अपने साध्य की पूर्ति के लिए-व्यंग्यात्मक शैली को साधन बना लेते हैं और मीठी चुटकी भी लेते हैं। जहां कहीं भी व्यंग्य हुआ है, वह मार्मिक एवं सरस बन पड़ा है -

छलना - यह ताना मैं सुनने नहीं आई हूँ। वासवी, तुमको तुम्हारी असफलता सूचित करने आई हूँ।

बिम्बसार - तो राममाता को कष्ट करने की क्या आवश्यकता थी ? यह तो एक सामान्य अनुचर कर सकता था।

छलना - किन्तु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और संदेश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को उतना प्रसन्न ही कर सकता।

। अंक २: दृश्य ६: पृ० स० १०५ ।

—इस स्थल पर छलना की वाक्य-योजना पर ध्यान दीजिये तो स्पष्ट हो जायगा कि वह अपनी चुटीली भाषा में प्रसेनजीत की हार और अजातशत्रु की जीत की सूचना देती है। यह शिष्ट-व्यंग्य का सुन्दर निदर्शन है। यों तो जहाँ कहीं भी वासवी या बिम्बसार के साथ छलना का वार्त्तालाप है वहाँ व्यंग्य अवश्य ही आभास लेकर आ पड़ा है।

जैसा कि हम कह चुके हैं कि तर्कपूर्ण विचारों की अभिव्यंजना में प्रसाद जी एक निपुण कलाकार हैं। प्रसादजी अपने तर्क पूर्ण विचारों को इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि पाठक उनके तर्क युक्त मनोभावों से सहमत होकर उनकी सराहना करने लगते हैं। नाटक की रीढ़ है—तर्क। बिना तर्क के नाटक की कथावस्तु गत्यात्मक नहीं हो सकती और वह स्थिर हो जायगी। तर्क पूर्ण वार्त्तालाप से कथानक संघर्षमय हो जाता है। 'संघर्षमय वार्तालाप ही नाटक के प्राण हैं वही कार्य व्यापार को प्रसारित करता है। कार्य-संचालन कराने का नाटककार के पास यही एक साधन है। वार्तालाप पर चरित्र-चित्रण भी निर्भर करता है'। तर्कपूर्ण शैली का उदाहरण पूरे नाटक में भरा पड़ा है; जो कथा में जान डाल देती है। यह भी उनकी शैलीगत विशेषताओं में एक है।

भाषा के सौन्दर्य को विकसित करने के लिए अलंकार की आवश्यकता होती है और उससे विभूषित भी कर दिया जाता है। वस्तुतः अलंकार उसी सीमा तक चढ़ाना चाहिए जिस सीमा तक वह सौन्दर्य को मुकुलित करने में सहायक हो। अलंकारों से भाषा

में एक स्पष्टता आ जाती है, जिससे भावों को समझने में आसानी होती है। परन्तु प्रसाद के नाटकों में अलंकार- बहुल लम्बे वाक्यों की एक समाँ बँध जाती है, जिससे संवाद की गति में बाधा उत्पन्न होती है। इतना ही नही पाठक या दर्शक हक्का बक्का रह जाता है। इस प्रकार की भाषा में नाटक नहीं लिखा जाना चाहिये, यह दोष 'प्रसादजी के प्रायः प्रत्येक नाटक के साथ चरितार्थ है। उदाहरण स्वरूप देखिये—

मल्लिका! तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्ध-रात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल हीरक कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कंठ की रसीली तानें पुकार बन कर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हें सम्हाल कर उतारने के लिए नक्षत्र लोक को गईं थीं। शिशिर कणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था। ऊषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचायक बन गया, और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वृन्त का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा। उसने खेलते-खेलते तुम्हें उस आसन से भी उठाया और गिराया। तुम्हारे धरणी पर आते ही जटिल जगत की कुटिल गृहस्थी के आल-जाल में आश्रयपूर्ण सौन्दर्यमयी रमणी के रूप में तुम्हें सब ने देखा।

—अंक १ : दृश्य ८ : पृ० स० ६५-६६।

इसके अतिरिक्त, इस प्रकार की अलंकार-बोझिल भाषा का दृष्टान्त उदयन का संवाद (अब मुझे अपने मुखचन्द्र को निर्निमेष......करने लगे।) भी है। इस अवतरण में जो कुछ

मल्लिका के सम्पूर्ण जीवन की आलोचना के रूप में कहा गया है, वह अस्पष्ट है, जिस के समझने में साधारण पाठक को कठिनाई का सामना करना पड़ता है और नाटकों के लिए इस प्रकार की शैली अनुपयुक्त है क्योंकि यह रस-संचार में भी सहायक नहीं है।

भाषा की सरलता एवं स्पष्टता के लिए प्रत्येक लेखक मुहावरों एवं वाक्य-खण्डों का प्रयोग करता है। प्रसाद जी की भाषा में मुहावरों का प्रयोग कम हुआ है, परन्तु इन मुहावरों में उर्दू लेखकों की तरह चुलबुलाहट एवं फड़कन नहीं। हाँ, मुहावरों के अभाव में भाषा में जो शुष्कता, शिथिलता एवं लचरपन आ जाती है, वह इसमें दृष्टिगत नहीं होती। यह ठीक है कि 'मुहावरे दानी ढूढ़ने वालों को अवश्य ही यह भाषा भी प्रसन्न नहीं कर सकती।' यों तो कुछ मुहावरों का जमघट इनके प्रत्येक नाटक में दिखलाई पड़ता है और यही बात 'अजातशत्रु' में भी लागू है। स्थान-स्थान पर मुहावरे हैं ही—

(क) हाँ, तो मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ।

—अङ्क १, दृश्य १ : पृ० स० २७।

(ख) जब राजा ही उसका अनुयायी है, फिर जनता क्यों न भाड़ में जायगी।

—अङ्क १ दृश्य ३ : पृ० स० ३६।

(ग) मदिरा के पहले तुमने हलाहल मेरे हृदय में उड़ेल दिया।

—अङ्क १ दृश्य ६ : पृ० स० ५०।

(घ) नई रानी ने मेरे विरुद्ध कान भर दिये हैं।

—अङ्क १ दृश्य ६ : पृ० स० ५४।

(ङ) अभी से इसका गर्व तोड़ देना चाहिये।

अङ्क १ दृश्य ७ : पृ० स० ६१।

(च) मेरे दूध का अपमान कराने का तुम्हे अधिकार नहीं।

—अङ्क १ दृश्य ८ : पृ० स० ६७।

(छ) चींटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है।

—अङ्क २ दृश्य १ : पृ० स० ७३।

(ज) मीठे मुँह की डायन! अब तेरी बातों से मैं ठगढी नहीं होने की।

—अङ्क ३ दृश्य १ : पृ० स० १३२।

(झ) जो होगा वह तो भविष्य के गर्भ में है।

—अङ्क ३ दृश्य १ : पृ० स० १३३।

(ञ) फिर काला मुख मगध में न दिखावे।

—अङ्क ३ दृश्य १ : पृ० स० १३४।

(ट) सावधान! कारायण, अपनी जीभ संभालो।

—अङ्क ३ दृश्य २ : पृ० स० १३६।

(ठ) मुझे स्वीकार है, यदि राज कुमारी की प्रतिष्ठा पर आँच न पहुंचे।

—अङ्क ३ दृश्य २ : पृ० स० १३६।

(ड) मल्लिका उस मिट्टी की नहीं है, जिसकी तुम समझते हो।

—अङ्क ३ दृश्य ३ : पृ० स० १४३।

(ढ) इसी से कहते हैं कि काठ की सौत भी बुरी होती है।

—अङ्क ३ दृश्य ८ : पृ० स० १६९।

यह तो सत्य है कि प्रसाद जी की प्रवृत्ति मुहावरेदार भाषा लिखने की ओर नहीं थी फिर भी उन्होंने लिखी है। उन्होंने कहीं कहीं पुराने मुहावरों को वृद्ध होने से बचा लिया है और उसे एक नया जामा पहनाया है, जैसे—

कौशल के दाँत जम रहे हैं।

—अङ्क २ दृश्य १ : पृ० स० ७४।

वस्तुतः इसका प्राचीन मुहावरा है—'तालू में दाँत जमना', परन्तु उन्होंने कुछ शब्दों के परिवर्त्तन द्वारा एक नवीन रूप में ढाल दिया है, जिससे भाषा में एक नई चेतना आ गई है, एक नया ओज आ गया है। मुहावरों के संबंध में यह कहना अनिवार्य है कि उनके मुहावरों पर कहीं कहीं अंग्रेजी मुहावरों का प्रभाव पड़ गया है जो साफ मालूम पड़ता है जैसे—

(क) जो होगा वह भविष्य के गर्भ में है।

—अङ्क ३, दृश्य १ : पृ०स० १३३।

(ड) मल्लिका उस मिट्टी की नहीं है।

—अङ्क ३ दृश्य ३ : पृ० स० १४३।

खैर, जो भी हो, मुहावरों के कारण भाषा में उतनी शिथिलता नहीं आने पायी है, जितनी दर्शनिक विचारों के कारण।

'अजातशत्रु' में गूढ़ वाक्य प्रायः सूत्र की तरह प्रतीत होते

हैं और इसके सामने मुहावरे फीके दीख पड़ते हैं। दृष्टान्त स्वरूप कुछ मार्मिक सूक्तियाँ यत्र-तत्र देख सकते हैं यथा—

(क) मनुष्य होना राजा होने से अच्छा है।

—अङ्क १ दृश्य १ : पृ० स० ३०।

(ख) शुद्ध बुद्धि तो सदैव निर्लिप्त रहती है।

—अङ्क १ दृश्य २ पृ० स० ३६

(ग) पुरुष का हृदय बड़ा सशंक होता है।

—अङ्क १ दृश्य ५ : पृ० स० ५०

(घ) विश्वभर छोटे से बड़ा होना, यही प्रत्यक्ष नियम है

—अङ्क १ दृश्य ८ : पृ०,स० ६६

(ङ) पाप का दण्ड ग्रहण कर लेने से वही पुण्य हो जाता है

—अङ्क १ दृश्य ६ : पृ० स० ७०

(च) राष्ट्र का उद्धार करना भी भारी परोपकार है।

—अङ्क २ दृश्य १ : पृ० स० ७८

(छ) आतंक का दमन करना प्रत्येक राजपुरुष का कर्म है।

—अङ्क २ दृश्य २ : पृ० स० ८२

(ज) रात्रि—चाहे कितनी भयानक हो, किन्तु प्रेमसर्य रमणी के हृदय से भयानक वह कदापि नहीं हो सकती।

—अङ्क २ दृश्य २ : पृ० स० ८४

(झ) संसार में स्त्रियों के लिये पति ही सब कुछ है।

—अङ्क १ दृश्य ५ : पृ० स० ६७

(ञ) जितनी वस्तुएँ बनती हैं वे सब बिगड़ने ही के लिये।

—अङ्क २ दृश्य ५ : पृ० स० ६६।

(ट) साँप को जीवन दान करना कभी भी लोकहितकर नहीं है।

—अङ्क २ दृश्य ७ : पृ० स० १०८।

(ठ) उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता मानव हृदय के लिए ही बने हैं।

—अङ्क २ दृश्य ७ : पृ० स० ११२।

(ड) नारी का हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्गम है, शीतलता की छाया है, और अनन्य भक्ति का आदर्श है।

—अंक ३ : दृश्य १ : पृ० सं० १३४

(ढ) प्रेम द्रोह को पराजित करता है।

—अंक ३ दृश्य २ : पृ० स० १३७

(ण) जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं—वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है।

—अंक ३ : दृश्य ३ : पृ० स० १४६

(त) कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है--स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा जो अन्तर्जगत का उच्चतम विकास है।

—अंक ३ दृश्य ४ : पृ० स० १५०

ये तो हैं सूक्तियां। प्रसाद जी के वाक्य विचार की धारा के साथ बहते हैं और उनका क्रम भी वैसा ही रहता है जैसी परिस्थिति रहती है। 'अजातशत्रु' में एक परिषद् का ऐसा दृश्य है जिसमें अजातशत्रु परिषद्गण के सम्मुख अपने हृदय की भावनाओं को उड़ेल देता है। वह समय की गति पहचान कर 'प्रशस्ति वाक्यों के द्वारा भाषण आरंभ' करता है, 'प्रश्नवाचक वाक्यों द्वारा स्थिति की गति पहचान कर आगे' बढ़ता है और 'उक्ति वैचित्र्य के सहारे जनमंडली को अपने अनकूल' बनाता है। देखिये अजातशत्रु कहता है—

आपलोग राष्ट्र के शुभचिन्तक हैं। जब पिताजी ने यह प्रकांड बोझ मेरे सिर पर रख दिया और मैंने इसे ग्रहण किया तब इसे भी मैंने किशोर-जीवन का एक कौतुक ही समझा था। किन्तु बात वैसी नहीं थी। मान्य महोदयो, राष्ट्र में एक ऐसी गुप्त शक्ति का कार्य खुले हाथों चल रहा है जो इस शक्तिशाली मगध-राष्ट्र को उन्नत नहीं देखना चाहता। और मैंने केवल इस बोझ को आपलोगों की शुभेच्छा का सहारा पाकर लिया था; आपलोग बताइये कि उस शक्ति का दमन आप लोगों को अभीष्ट है कि नहीं? या अपने राष्ट्र और सम्राट को आपलोग अपमानित करना चाहते हैं?

परिषद—कभी नहीं! मगध का राष्ट्र सदैव गर्व से उन्नत रहेगा और विरोधी शक्ति पंददलित होगी।

—अंक २ दृश्य १: पृ० स० ७७।

प्रसादजी ने कहीं-कहीं संभाषण में नाटकीयता लाने के लिये वाक्यों के व्याकरण-सम्मत बनावट में हेर-फेर किया है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित अवतरण देखिये—

'हाय रे मानव ! क्यों इतनी दुरभिलाषायें बिजली की तरह तू अपने हृदय में आलोकित करता है...जीवन की शान्तिमयी सच्ची परिस्थिति को छोड़कर व्यर्थ के अभिमान में तू कब तक पड़ा रहेगा ?'

—अंक ३ दृश्य ६ : पृ० स० १७१ ।

प्रसादजी के 'अजातशत्रु' में संतुलित वाक्यों के भी उदाहरण हैं और ऐसे वाक्यों के सहारे भाषा में एक बल आता है, चमत्कार उत्पन्न होता है यथा—

कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति।

कहीं-कहीं आश्चर्य वाक्यों (epigrams) और विरोधाभासों (paradoxes) के द्वारा भाषा एवं शैली में शोभा और चमत्कार लाया गया है—

(क) आह, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है।

—अंक १ दृश्य २ : पृ० स० ३३ ।

(ख) इस रूप का इतना अपमान ! सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ ! मुझसे ब्याह करना अस्वीकार किया।

—अंक १ दृश्य ५ : पृ० स० ४७ ।

(ग) ओह ! ऐसा पाखंड-पूर्ण आचरण ! असह्य !

—अंक १ दृश्य ५ : पृ० स० ५३ ।

(घ) अपमान ! पिता से पुत्र का अपमान ! क्या यह

विद्रोही युवक हृदय जो नीच रक्त से कलुषित है, युवराज होने योग्य है ? क्या भेड़िये की तरह भयानक ऐसी दुराचारी संतान अपने माता-पिता का वध न करेगी ? अमात्य !

—अंक १ दृश्य ७ पृ० सं० ६० ।

(ङ) क्या ? षडयन्त्र ! अरे, क्या मैं पागल हो गया था ! देवी, अपराध क्षमा हो

—अंक १ दृश्य ६ : पृ० सं० ७२ ।

जहाँ-जहाँ कल्पना की ऊँची उड़ान है वहाँ-वहाँ प्रसादजी की भाषा लाक्षणिक-वैचित्र्य-पूर्ण हो गई है, हाँ यही कारण है कि वहाँ पर की शैली बुद्धि को सहज ग्राह्य नहीं है, यथा—

'हृदय नीरव अभिलाषओं का नीड़ हो रहा है। जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न, विश्व भर की मदिरा बन कर मेरे उन्माद की सहकारिणी कोमल कल्पनाओं का भण्डार हो गया है··· आदि ।

—अंक १ दृश्य ८ पृ० सं० ६५ ।

और यह गद्य-काव्य का रूप धारण कर लेती है ।

कथोद्घात (कथा प्रारंभ; प्रस्तावना) के द्वारा उन्होंने 'कथनोपकथन में अभिनयोपयोगी रोचकता और सजीवता लायी है । उदाहरणार्थ—

बिम्बसार—आह, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है ।...मनुष्य व्यर्थ महत्व की

आकांक्षा में मरता है; अपनी नीची किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में उसे संतोष नहीं होता; नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे तो भी क्या ?

छलना—(प्रवेश करके)—और नीचे के लोग वहीं रहे ! वे मानों कुछ अधिकार नहीं रखते ? ऊपरवालों का क्या अन्याय नहीं है ?

—अंक १ दृश्य २ पृ० स० ३३।

कहीं कहीं शब्दों का संकलन इतना सुन्दर हुआ है कि उसकी जगह दूसरा शब्द जचँता ही नहीं जैसे—

(क) श्यामा, एक बड़े 'सम्भ्रान्त' सज्जन आये हैं।

—अंक २ दृश्य ३ पृ० स० ६२।

—यहां पर अगर 'सम्भ्रान्त' के स्थान पर कोई दूसरा शब्द रखा जाता तो वह मार्मिकता नहीं आती। इस शब्द में श्लेष है, जिसमें कथन में सौन्दर्य आ गया है।

(ख) और कोमल पत्तियों को, जो अपनी डाली में निरीह लटका करती है, प्रभञ्जन क्यों झिझोड़ता है।

—अंक २ दृश्य ६ पृ० स० १०२।

—इसमें तीन शब्दों (पत्तियों, निरीह, प्रभञ्जन) का संकलन है और इनके चयन में शब्दों की ध्वनि पर भी ध्यान दिया गया है। यदि यहाँ पर 'पत्ती' के स्थान 'पत्ता' रक्खा जाता तो इसका माधुर्य चला जाता, 'निरीह' के स्थान पर दूसरा समानार्थी शब्द रखा जाता तो अनुपयुक्त जचता और नाटककार ने 'हवा' या

'वायु' शब्द को न रखकर 'प्रभंजन' के प्रयोग से वायु का उग्ररूप प्रदर्शित किया है जो उनकी मौलिक प्रतिभा का परिचायक है।

प्रसादजी के नाटक के गद्य में भी कविता की छाप है, जो अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होती है। 'अजातशत्रु' के गद्य में स्थान-स्थान पर अन्त्यानुप्रास भी है, जैसे--

(i) जीवक! मुझे भ्रान्ति में न डालो – विष का घड़ा मेरे हृदय पर न डालो।

–अंक १ दृश्य ४ पृ० स० ४४।

(ii) राष्ट्र का उद्धार करना भी भारी परोपकार है। यह भी मुझे स्वीकार है।

अंक २ दृश्य १ पृ० स० ७८।

हाँ, प्रसादजी के नाटकों की भाषा-शैली के संबंध में यह कहना अनिवार्य हो जाता है कि उनके नाटकों में खटकने वाला एक दोष है—बीच-बीच में शेर। यह प्रवृत्ति अजातशत्रु में अधिक है और पारसी नाटकों की शेरबाजी का अनुकरण इसमें भी किया गया है; जैसे वासवी कहती है–

'यह मैं क्या देख रही हूँ। छलना! यह गृह-विद्रोह की आग तू क्यों जलाया चाहती है। राज परिवार में क्या सुख अपेक्षित नहीं है–

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बड़ा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।

वन्धुवर्ग हो सम्मानित, हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,
शान्ति पूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर ?'

—अंक १ दृश्य १ पृ० स० ३१।

या

समुद्रगुप्त को मोहरों की थैली के साथ भेजती हुई श्यामा कहती है –

'जाओ बलि के बकरे, जाओ ! फिर न आना। मेरा शैलेन्द्र, मेरा प्यारा शैलेन्द्र।—

तुम्हारी मोहनी छवि पर निछावर प्राण हैं मेरे,
अखिल भूलोक बलिहारी मधुर मृदुहास पर तेरे।'

—अंक २ दृश्य ४ पृ० स० ६६।

या

जीवक—तो इससे क्या ! हम अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं, दुःख से विचलित तो होते नहीं।

लोभ सुख का नहीं, न तो डर है,
प्राण कर्त्तव्य पर निछावर है।

—अंक २ दृश्य ६ पृ० स० १२४।

इस सम्बन्ध में श्री राजेश्वर प्रसाद अर्गल एम ए० लिखते हैं कि—ये पद्य की पंक्तियां एक प्रकार से लोक-प्रसिद्ध उक्तियां ही मालूम होती हैं। ऐसे अवसर हमारे जीवन में भी आते हैं जब हम कभी-कभी किसी दोहे आदि का प्रयोग अपनी बातचीत में कर देते हैं। पद्य का सम्बन्ध पात्रों के वार्तालाप से है अवश्य,

लेकिन परोक्ष रूप में। अन्य स्थलों पर भी जहाँ नाटककारने ऐसे पद्यों का उपयोग किया है वहां इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि पद्य की पंक्तियां पात्रों की स्वंय की रचना न मालूम हो जो वह गद्य की बात को पूरा करने के लिए उसी अवसर पर रचता जा रहा हो। गौतम का यह कथन साधुओं के कितने स्वभावानुकूल हुआ है। परंतु ये गौतम की आशुकवियों के समान तत्कालीन रचना नहीं मालूम होती।"८ यहां पर अर्गलजी ने उदार भावना से प्रेरित होकर ऐसा लिख मारा है, परन्तु वास्तव में बीच-बीच में इस प्रकार के शेरों का रहना कुछ अनुचित सा जचता है और इस प्रकार की प्रवृत्ति उनके अन्तिम नाटक में नहीं पायी जाती। इसमें जो बीच-बीच में पद्य आये हैं, उसका एकमात्र कारण यह है कि यह उनके प्रारंभिक नाटकों में एक है। यह तो उदयन और मागन्धी के वार्तालाप से स्पष्ट हो जाता है।

उदयन -- हृदयेश्वरी ! कौन मुझको तुमसे अलग कर सकता है--

हमारे वक्ष में बनकर हृदय, यह छवि समायेगी।
स्वयं निज माधुरी छवि का रसीला गान गायेगी॥
अलग तव चेतना ही चित्त में कुछ रह न जायेगी।
अकेले विश्व-मन्दिर में तुम्हीं को पूज पायेगी॥

अंक १ दृश्य ५ पृ० स० ५२।

—इस पद्य की लहर भी उर्दू की-सी है। 'उदयन के लिए—

अलग तव चेतना ही चित्त में कुछ रह न जायेगी।
अकेले विश्व मन्दिर में तुम्हीं को पूज पायेगी॥

---

८. प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक — पृ० सं० ५२-५३।

कहना कुछ हास्यप्रद मालूम होता है। यह तो किसी भक्त की वाणी मालूम होती है जो अपने अस्तित्व को परमात्मा में मिलाकर इस विश्वमन्दिर में उसी एक परमात्मा की छवि की आराधना में लगना चाहती है। उदयन का यह कथन उस समय स्वाभाविक हो सकता है जब हम इन पंक्तियों को किसी अन्य कवि की रचनाएँ समझें जिनका उपयोग उसने अपने भावों की समानता समझाने के लिए ही किया हो। ठीक यही मत श्यामा के इस कथन के बारे में भी है'—

श्यामा—ओह ! विष ! सिर घूम रहा है। मैं बहुत पी चुकी हूँ अब..... जल......भयानक स्वप्न ! क्या तुम मुझे जलते हुए हलाहल का मात्रा पिला दोगे।

अमृत हो जायगा, विष भी पिला दो हाथ से अपने।
पलक ये छक चुके हैं चेतना उसमें लगी कँपने।
विकल हैं इन्द्रियाँ-हाँ देखते इस रूप के सपने,
जगत् विस्मृत, हृदय पुलकित, लगा वह नाम है जपने।

—अंक २ दृश्य ८ : पृ० सं० ११६।

इसके अलावे, 'अजातशत्रु' में कई स्थानों पर फारसी अरबी के चलते शब्द एवं देशज शब्द भी आये हैं। इसमें अरबी फारसी के जो शब्द आये हैं, वे हिन्दी में अच्छी तरह खप चुके हैं, जैसे—

(क) तुम मेरी संतान होकर मेरे सामने ऐसी पोच बात न कहो।

—अंक १ दृश्य ८ : पृ० सं० ६६।

(ख) चींटी भी पंख लगाकर बाज़ के साथ उड़ना चाहती हैं!

—अंक २ दृश्य १ : पृ० सं० ७३।

ये दोनों शब्द 'पोच' और 'बाज' फारसी के शब्द हैं। देशज शब्दों के प्रयोग के कुछ उदाहरण देखिये--

(i) बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वृन्त का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा।

—अंक १ दृश्य ८ : पृ० सं० ६५।

कहीं कहीं 'अजातशत्रु' में 'अर्द्धोल्लिखित संस्कृत उद्धरणों के कारण शैली में दुर्बोधता आ गई है और उसकी स्वच्छता (Clearance) धूमिल पड़ गई है'। जैसे—

छलना—बस थोड़ी-सी सफलता मिलते ही अकर्मण्यता ने संतोष का मोदक खिला दिया! पेट भर गया! क्या तुम भूल गए कि 'सन्तुष्टश्च महीपतिः'।

—अंक २ दृश्य १० : पृ० सं० १२७।

वास्तव में छलना की इस उक्ति से परिचित होने के पूर्व निम्नलिखित श्लोक को जान लेना अनिवार्य है—

असंतुष्टा द्विजा नष्टाः संतुष्टश्च महीपतिः।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जा च कुलाङ्गना॥

'अजातशत्रु' में एक दो स्थलों पर लिंग और वचन की गल्तियाँ भी मिलती हैं, जैसे—

(i) चपल सभी ग्रह तारा हैं।

—अंक १ दृश्य ६ : पृ० सं० ५५।

(i) जब तेरी नानिहाल में तेरे अपमानित होने की बात मैंने सुनी थी।

--अंक १ दृश्य ७ : पृ० सं० ६० ।

(ii) प्रत्येक नियमों में अपवाद लगा दिये हैं।

--अङ्क २ दृश्य ६ : पृ० सं० १०२ ।

(iv) पलक ये झुक चुके हैं चेतना उसमें लगी कंपने।

--अङ्क २ दृश्य ८ : पृ० सं० ११६ ।

(v) हमारी करुणा के दो बूँद, मिले एकत्र हुआ संतोष।

--अङ्क ३ दृश्य २ : पृ० सं० १३६ ।

(vi) देवदत्त आपका प्राण लेने आ रहा है।

--अङ्क ३ दृश्य ६ : पृ० सं० १६१ ।

प्रसाद जी ने 'अजातशत्रु' में पूर्वी प्रयोग भी यत्र तत्र किया है, जिसका उदाहरण देखिये-

(क) यह पद्मा, बार बार मुझे अपदस्थ किया चाहती है।

--अङ्क १ दृश्य १ : पृ० सं० ३० ।

(ख) क्या तुम मेरा भी अपमान किया चाहती हो।

--अङ्क १ दृश्य १ पृ० सं० ३१ ।

(ग) कैसा उत्पात मचाया चाहती हो ?

अङ्क १ दृश्य २ : पृ० सं० ३४ ।

(घ) क्या कहा चाहती हो रानी ?

-अङ्क २ दृश्य ३ : पृ० सं० ८६ ।

(ङ) क्या यहीं प्रसेनजित् नहीं रहा।

--अङ्क २ दृश्य ७ : पृ० सं० ११२ ।

(च) देख, अबकी अपना काम ठीक से करना।

--अङ्क ३ दृश्य ८ : पृ० सं० १६८ ।

इसके अतिरिक्त प्रसाद जी ने 'अजातशत्रु' के भिन्न-भिन्न संस्करणों में भाषा के परिमार्जन करने का स्तुत्य प्रयास किया है, जो प्रथम संस्करण और अब के संस्करण से तुलना करने पर स्पष्ट है—

प्रथम संस्करण	ग्यारहवाँ संस्करण
अङ्क १ दृश्य २--तुम से एक काम की बात कहा चाहता हूँ।	तुमसे······कहना चाहता हूँ।
अङ्क १ दृश्य ३-यह झंझट भला मुझ विरक्त से कहाँ होगा।	यह झंझट······होगी।
अङ्क ३ दृश्य ७-आम की टोकनी लाकर	आम की टोकरी लाकर।

इस प्रकार प्रसादजी ने 'अजातशत्रु' की भाषा सरल एवं व्यावहारिक बनाने की चेष्टा की है।

अतएव हम देखते हैं कि 'अजातशत्रु' में भाषा-शैली के गुणों का ढेर है फिर भी यह प्रसादजी का सबसे कठिन नाटक है क्योंकि वे 'चिन्तना के निर्माण-कार्य में अधिक संलग्न' रहे। यह उनके प्रारंभिक नाटकों में एक है। वास्तव में नाटक के क्षेत्र में उनका पदार्पण 'विशाख' से होता है और तब वे प्रगति के पथ पर बढ़ते हैं। जिस प्रकार की भाषा 'विशाख में रही है, उसी प्रकार की भाषा 'अजातशत्रु' में भी है और भाषा का यही स्वरूप 'स्कन्दगुप्त' तक रहा। इसके बाद उनकी भाषा पूर्ण प्रांजल हो गई। यों तो प्रसाद की शैली सरल, स्वच्छ एवं कवित्व पूर्ण है, जिसमें ओज और प्रसाद गुण की मात्रा कूट-कूट कर भरी हुई है फिर भी नाटक की दृष्टि से इसकी भाषा अनुपयुक्त है। बस !!

—*:०:*—

अजातशत्रु का उद्देश्य

'प्रत्येक कलाजन्य रचना का कोई एक उद्देश्य अवश्य होना चाहिये और उसे अपने समक्ष रखकर रचना करनी चाहिए। पर ऐसा न करके यदि तुम विना किसी उद्देश्य को अपने दृष्टिकोण में रख कर, कला के पथ पर अग्रसर होगे तो तुम न केवल अपना व्यक्तित्व, वरन् अपना विशेषतत्व भी नष्ट कर दोगे।

—नाटककार एवं कहानीकार शिकाव (रूस)

प्रसादजी का अजातशत्रु सर्व प्रथम सन् १९२२ में प्रकाशित हुआ। ठीक इसके चार वर्ष पूर्व ही यूरोपीय महायुद्ध का अन्त हुआ था और यह महायुद्ध सन १९१४ से लेकर १९१८ तक रहा। इस युद्ध का प्रभाव सिर्फ यूरोपीय देशों पर ही न पड़ा वल्कि भारत वर्ष पर भी। चार वर्षों तक ससार में यह ववंडर वर्तमान रहा और इसके वाद लोग शान्ति-स्थापना के लिए नित्य नये-नये आदर्शों की कल्पना करने लगे। देश महँगी के कारण पीसा हुआ था। लोग इस जर्जरमय जीवन से मुक्ति चाहते थे। यों तो भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना का बीज-वपन भारतेन्दु युग में ही हो चुका था, परन्तु बीसवीं सदी के आरम्भ होते ही देश-भक्ति की इस नयी भावना ने एक दूसरी करवट ली। भारतेन्दु-युग के लोगों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति आसक्ति थी, विरक्ति नहीं, प्रेम था, द्रोह नहीं। परन्तु १९०६ के बंगाल विभाजन के पश्चात देश में जो स्वदेशी और स्वराज्य की लहर देश के एक

कोने से दूसरे कोने तक फैली उसमें पश्चिमी सभ्यता की प्रतिक्रियात्मक रूप से भारत में अपनत्व की चेतना जाग्रत होने लगी। भारतीय संस्कृति, भारतीय आदर्श, भारतीय शिक्षा प्रणाली की तुलना पश्चिमी आदर्शों से की जाने लगी और इस तुलना में भारतीयता अधिक गौरवान्वित जान पड़ने लगी। इसी प्रभाव के कारण अणिमानन्दजी ने राष्ट्रीय पाठशाला खोली जो बाद में शान्तिनिकेतन के नाम से विख्यात हुई'। उन्हीं दिनों सन १९१३ में लखनऊ में मुस्लिम लीग का अधिवेशन हुआ—जहां भारतवर्ष को पूर्ण स्वातंत्र्य मिलने की मांग पेश की गई थी। ठीक उसी समय क़रांची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति ने मुस्लिम लीग की माँग का समर्थन किया। और धन्यवाद भी दिया। 'महायुद्ध भारत की आन्तरिक व्यवस्था के लिए भी एक संघर्ष—काल था। आशा और निराशा के द्वन्द्व का प्रारंभ था, परन्तु महायुद्ध के बाद ही इंगलैंड से प्रधान मन्त्री, एस्क्विथ साहब, ने भारत के राज्य शासन को एक नवीन दृष्टि से देखने की घोषणा कर दी थी। इधर १९१७ में भारत—सचिव, मोंटेग्यू महोदय ने भी भारत के शासन में परिवर्तन करने का वक्तव्य दिया था, अतएव भारतवर्ष पूर्णरूप से मित्रराष्ट्रों को ओर हो गया और युद्ध-संचालन में यथा शक्ति सहयोग देने लगा। भविष्य की आशाओं ने राष्ट्रीय आन्दोलन को शिथिल कर दिया।'

'महायुद्ध में संयुक्त राष्ट्र के आगमन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक विचारों में एक आन्दोलन उपस्थित कर दिया। भविष्य की राजनैतिक समस्याओं को हल करने के लिये प्रेसीडेंट विलसन के

चौदह सिद्धांत ही उपयुक्त समझे जाने लगे और ये चौदह सिद्धांत अन्तर्राष्ट्रीय भावना को लेकर ही रखे गये थे। संकुचित राष्ट्रीय भावना का इनमें कोई स्थान न था। प्रेसीडेंट विलसन का यह सिद्धांत कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने शासन चलाने और उसकी सीमा निर्धारित करने का अधिकार है—केवल अन्तर्राष्ट्रीय भावना जाग्रत करने का प्रथम सोपान ही था। यह भावना पारस्परिक द्वेष और प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरूप न थी। यह राष्ट्रीय अधिकार मानव प्रेम और आपस की सहानुभूति पर निर्भर था। इसी भावना से प्रेरित होकर ही अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को पारस्परिक समझौते, सहानुभूति और कर्त्तव्य द्वारा सुलझाने के लिए राष्ट्र-संघ की योजना की गई थी। इस प्रकार संसार का पूरा राजनैतिक क्षेत्र उस काल की इस अन्तर्राष्ट्रीय भावना से प्रभावित था। भारतवर्ष की राजनीति पर भी इसका प्रभाव पड़ा और साथ ही साथ इसके साहित्य पर भी।'

'अजातशत्रु का कथानक इसी अन्तर्राष्ट्रीय भावना का रूपान्तर मात्र है। गौतम के विश्वमैत्री के उपदेश इस काल की समस्या सुलझाने के उपयुक्त थे। इसलिए प्रसाद जी ने एक ओर तो इस काल की राजनैतिक धाराओं से प्रभावित होकर यह विषय चुना, दूसरी ओर पथ-प्रदर्शक की भांति उस अन्तर्राष्ट्रीय धारा को सफल बनाने में स्वयं अपने विचार भी रखे'। इसकी पुष्टि के लिए प्रसादजी ने भारत के गौरवपूर्ण चित्रों का अंकन किया, वे चित्र इतिहास के अंचल में छिपे मिले। अपने नाटकों के उद्देश्य का कथन नाटककार प्रसाद ने स्वयं विशाख (प्रथम संस्करण) की

भूमिका में किया है कि—'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संघटित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है। मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है'। उनकी इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि प्रसादजी के नाटक कल्पना की वस्तु नहीं बल्कि वे चिंतन, मनन और अध्ययन के परिणाम की वस्तु हैं। उसकी सृष्टि कौतूहल एवं मनोरंजन के साधन स्वरूप नहीं हुई है बल्कि उसमें हमारे जीवन, हमारे समाज की समस्याओं के समाधान हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि उनके सभी नाटकों के अन्तर्गत समाज-सुधार का कार्यक्रम अन्तर्निहित है।

नाटककार प्रसाद के नाटक का एक मात्र उद्देश्य है--भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्र का नवनिर्माण। आज हमें भारतीय संस्कृति की पुनीत झाँकी देखने को नहीं मिलती क्योंकि वह सद्गुणों के अभाव में धूमिल हो चली है, जिसका कारण है—गृह-कलह। इसी गृह-कलह ने हमारे समाज को दूषित कर दिया है, जब हमारा समाज ही इस दूषित वायु से अनुप्राणित है तो अवश्य ही हमारी संस्कृति भी विकृत होती जायगी। इसी विषाक्त वायुमंडल ने हमें खुलकर खिलने का अवकाश न दिया, हम उसी गृह-कलह के झंझट में रह गए जहां से निकल आना एक अभिशाप बन गया। प्रसादजी

ने इस अभिशाप को वरदान के रूप में परिवर्तित करने के लिए ऐसे पात्रों को चुना, जिन्हों ने हमारी प्राचीन संस्कृति के गौरवपूर्ण चित्रों से हमें अवगत कराया और आधुनिक भारत के नव-निर्माण के लिए अनेक योजनाएँ पेश कीं।

अजातशत्रु में गृह-कलह को दूर करने का सन्देश है, जिससे विश्व मैत्री की स्थापना संभव हो सकती है। यही गृह-कलह देश के लिए अधिक घातक है। इसकी अग्नि एवं लपट इतनी तीव्र होती है कि एक ही बार में सब जलकर भष्म हो जाते हैं। इसी गृह-विग्रह की चिनगारी ने भारत ऐसे देश पर विदेशियों के बसाने का अवसर दिया, जिसका फल आज तक हम भोग रहे हैं। यों तो आज हमारे देश से विदेशी चले गए हैं परन्तु फिर भी हमारा घाव हरा ही है। 'अजातशत्रु' में गृह-विग्रह की समस्या का समाधान उपस्थित किया गया है और गृह-कलह-निवारण ही राष्ट्र-निर्माण का पहला सोपान है। इस गृह-कलह में हाथ बटाँने में बहु-विवाह एवं बेमेल- विवाह भी है।

'अजातशत्रु' नाटक में मगध-सम्राट बिम्बसार ने दो विवाह किया और उनका दामाद कौशाम्बी का राजा उदयन ने तीन। बिम्बसार की दो रानियों में वासवी और छलना है। उदयन की तीन रानियों में वासवदत्ता, पद्मावती और मागन्धी है। उदयन और बिम्बसार के दुःखों का मूल कारण उनका बहु-विवाह है। प्रसादजी ने इसकी कटु आलोचना वसंतक और जीवक के कथनोपकथन के सहारे की है।

मगध के राज-परिवार में गृह-विग्रह की ज्वाला उद्धत उद्दण्ड अजात एवं महत्वाकांक्षिनी माता छलना के कारण जलती है। इसके कारण एक भीषण परिस्थिति का निर्माण हो जाता है। छलना की प्रेरणा एवं कुचक्रों के कारण अजातशत्रु सिंहासनासीन होता है और महाराज बिम्बसार अपना अधिकार त्याग कर भगवान की उपासना में जीवन यापन करते हैं। ऐसा गौतम बुद्धदेव के उपदेश से ही होता है। वासवी अपने पति को निःसहाय अवस्था में देखकर उनसे काशी की आय प्राप्त करवाने की सम्मति देकर उन्हें सन्तुष्ट करती है क्योंकि वह दहेज में मिला था। इसी प्रश्न को लेकर मगध और कौशल में युद्ध छिड़ता है।

ठीक इसी प्रकार कोशल-नरेश का पुत्र विरुद्धक अजातशत्रु की तरह अपने पिता प्रसेनजित् के विरुद्ध विद्रोह करता है। वह डाकू बन जाता है और काशी जाकर मल्लिका के पति कोशल सेनापति बन्धुल की हत्या करता है। इसके अन्तर्गत दो रहस्य हैं' एक तो मल्लिका के प्रति वह आकृष्ट था, दूसरे अजातशत्रु का सहायक हुआ।

राजा प्रसेनजित् और उदयन दोनों मिलकर अजातशत्रु पर आक्रमण करते हैं। अजातशत्रु हार जाता है और बन्दी बना कर कोशल भेजा जाता है। इससे छलना को एक ठेस लगती है। वासवी के प्रयत्न से अजातशत्रु मुक्त होता है और वासवी अजातशत्रु को वाजिरा से विवाह करा कर दोनों को लेकर मगध लौटती है। वासवी और छलना में पुन स्नेह-भाव हो जाता है। छलना संभल जाती है और वासवी के करुणामय पावन हृदय के स्नेह को

पहचानती है। अंत में अजातशत्रु पुत्रोत्पत्ति पर पितृ-प्रेम का अनुभव करता है और अपने पिता बिम्बसार से मिलने को जाता है, परन्तु वह उसी समय मर जाता है। इसी कथा के साथ गौतम की करुणा, सत्य एवं प्रेम की विजय की कथा सम्बद्ध है।

अजातशत्रु नाटक में जो प्रेम की भावना अंत में आयी है, उसमें गौतम का मुख्य स्थान है। अगर गौतम न होते तो हो सकता था कि बिम्बसार और वासवी राज्य नहीं छोड़ते तब गृह-विद्रोह की आग बहुत जोर की लगती परन्तु बुद्ध के व्यक्तित्व ने इस आग को बुझा कर शान्त किया। गौतम ने बताया है कि प्रेम हृदय की करुणा से सिंचित है। क्योंकि 'विश्व भर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है, जो प्राणिमात्र में सम दृष्टि रखती है'। इतना ही नहीं उन्हों ने विश्व-मैत्री का मूल मंत्र बतलाते हुए कहा है कि 'संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यंग्य है। हृदय में जितना यह घुसता है उतनी कटार नहीं। वाक्संयम विश्व-मैत्री की पहली सीढ़ी है'। इसीलिए समस्त सदाचारों की नींव पर विश्वबन्धुता एवं शान्ति-स्थापना करने के लिए वे सदैव चेष्टाशील हैं। वासवी संसार की स्नेहमयी माता है और 'वह अपने पारिवारिक स्नेह के सुख को संसार भर में विकीर्ण कर विश्व को अपना कुनबा बनाना चाहती है'। वासवी सुखद गृहस्थी की स्थापना की कल्पना करती है—

'कुटुम्ब के प्राणियों में स्नेह का प्रचार करके मानव इतना सुखी होता है, यह आज ही मालूम हुआ होगा। भगवान् ! क्या कभी वह भी दिन आवेगा, जब विश्व भर में एक कुटुम्ब स्थापित हो जावेगा और मानवमात्र स्नेह से अपनी गृहस्थी सम्हालेंगे।'

यह तो सत्य ही है कि विश्व-प्रेम का मूल-मंत्र है-सब जीवों को सम दृष्टि से देखना। यही मंत्र, यही गुण अजातशत्रु के पास नहीं था, जिसके कारण वह पतन की ओर उन्मुख हुआ। इसीलिए उसने क्रूर कार्यों को न्यस्त किया, जिसे वह स्वयं स्वीकार करता है —

'नहीं पिता मुझे भ्रम हो गया था। मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था केवल जंगलीपन की स्वतंत्रता का अभिमान। अपने को विश्व भर से स्वतंत्र जीव समझने का झूठा आत्म-सम्मान'।

'अजात शत्रु' के कुछ पात्र (जिसमें वासवी, बिम्बसार, मल्लिका, कारायण गौतम आदि हैं) विश्व मैत्री की स्थापना के लिए करुणा को अनिवार्य मानते हैं, क्योंकि मानवी सृष्टि करुणा के लिए है। 'परन्तु यह करुणा मनुष्य के हृदय में अभ्यास द्वारा धीरे धीरे विकसित की जा सकती है। कुटुम्ब के सुख पर राष्ट्र का सुख निर्भर है और राष्ट्र का सुख पूरे संसार का। कुटुम्ब के शान्त वातावरण में पला हुआ प्रेम राष्ट्र प्रेम में परिवर्तित हो मानवी प्रेम हो जाता है और यही अन्तर्राष्ट्रीय भावना है। वासवी इसी भावना को अजात के हृदय में जाग्रत करने के लिए ही कौटुम्बिक सुख-शान्ति चाहती है। अपने गुरुजनों की ओर कर्त्तव्य करते करते हीं हमारा ध्यान समस्त मानव-जाति की ओर जा सकता है। इस कौटुम्बिक शान्ति-स्थापना में माता का ही नहीं, पूरी नारी जाति का मुख्य भाग है। क्योंकि नारी स्वभाव से ही प्रेम की प्रतिमा है, करुणा की देवी है। उसमें

सहनशीलता है। जिसमें ये गुण नहीं उसका जीवन भी सुखी नहीं। वह वंवडर होकर सारे कुटुम्ब में भयानक उत्पात मचाया करती है। छलना इन गुणों से शून्य थी, इसीलिए उसने कुटुम्ब में—राज्य में—यह विद्रोह खड़ा किया था। मागन्धी भी इन गुणों से शून्य थी' इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी का विश्व-प्रेम करुणा पर ही अवलम्बित है और करुणा स्त्रियों की सहज वृत्ति है। अजातशत्रु की कथा-वस्तु का निर्माण करुणा की भीत पर हुआ है। करुणा के अभाव में मानव-संसार अशान्ति पूर्ण रहा है। जिस मनुष्य के हृदय में करुणा की मन्दाकिनी नहीं वह मानव की कोटि में नहीं आ सकता बल्कि दानव के सम्प्रदाय में गिना जायगा। करुणा और क्रूरता का अन्तर्द्वन्द्व नाटक के आरंभ में ही है और नाटक के अंत में क्रूरता का चक्र ठप सा रह जाता है और करुणा विजय की पताका लेकर बैठ जाती है। अंत में सभी करुणा की सीख ग्रहण कर अपनी अपनी भूल पर पश्चात्ताप करते हैं और नाटक का अव-सान शान्ति पूर्ण होता है। इस सुखदमय अवसान के सम्बन्ध में गौतम ने पहले ही कह दिया था —

'निष्ठुर आदि-सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से,
मानव का महत्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से।'

इस नाटक में प्रसाद जी ने यह बतलाया है कि अपने द्वारा न्यस्त बुरे कार्यों पर पश्चात्ताप करना व्यर्थ है क्योंकि उससे कोई लाभ नहीं होता बल्कि उसका पश्चात्ताप करने का ढंग ही दूसरा हो और वह है—सुकार्यों के द्वारा। इसकी ओर संकेत प्रसादजी ने मल्लिका के शब्दों द्वारा किया है—

'अतीत का वज्र-कठोर हृदय पर जो कुटिल-रेखा चित्र खींच गए हैं वे क्या कभी मिटेंगे ? यदि आपकी इच्छा है तो वर्तमान में कुछ रमणीय सुन्दर चित्र खींचिये, जो भविष्य में उज्ज्वल होकर दर्शकों के हृदय को शान्ति दें ।,

मल्लिका के उक्त कथन में करुणा की अन्तर्धारा है, जो सूक्ष्म अध्ययन के उपरांत हमें आकृष्ट करता है । करुणा ही प्रसेनजित और अजातशत्रु जैसे पात्र के हृदय को हिंस्र कर्मों की ओर जाने से रोकती है और उन दोनों के हृदय में पुत्र-स्नेह का जल इससे भर आता है । वस्तुतः करुणा ही समस्त गुणों की जननी है । करुणा का उद्भव सुखद गृहस्थी में ही होता है और इसका संचार करने के लिए नारी जाति ही है क्योंकि उनका हृदय वात्सल्य मय होता है । नारी विद्रोही को विनयी बना लेती है और बिछुड़े को गले लगा लेती है । अजातशत्रु के उद्देश्य का पता तो नाटक के प्रथम दृश्य में ही लग जाता है और वह है—मगध और कौशल के पारिवारिक जीवन की कटुता का अन्त, जो विश्वप्रेम की पहली सीढ़ी है । लेखक ने वासवी के शब्दों में अपना उद्देश्य व्यक्त किया है । वासवी कहती है—'राजपरिवार में क्या सुख अपेक्षित नहीं है—

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में ।
कुल लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में ॥
बन्धुवर्ग हो सम्मानित, हो सेवक सुखी प्रणत अनुचर ।
शाँतिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर ॥

सुतरां हम देखते हैं कि 'क्षणिक विज्ञानवादी भगवान अमिताभ

के शीतल प्रभाव की छाया में करुणा और सेवा, क्षमा और अनुग्रह, पवित्रता और विश्ववन्धुत्व की प्रयोगशाला सा यह नाटक बौध धर्म का पवित्र विजय घोष है।' इसी उद्देश्य को उपस्थित करने के लिए नाटककार ने अपने प्रधान पात्रों को पूर्ण मानव बनाया है और उनकी सहायता से यह सिद्ध किया है कि सुखद गृहस्थी की स्थापना ही देश प्रेम का आधार है और देश प्रेम विश्वप्रेम का आधार है। इसीलिए प्रसादजी ने अन्तर्राष्ट्रीय-स्नेह-सम्बन्ध के लिए कुटुम्ब मैत्री को अधिक महत्व दिया है क्योंकि वही विश्व-प्रेम की स्थापना करने में समर्थ होगा। बस!!



अजातशत्रु में अभिनयात्मकता

नाटक दृश्य काव्य के अन्तर्गत आता है और इसका संबंध अवस्थानुकृति से है। नाटक को रूपक भी कहा गया है। अतः नाटक में अभिनेयता का गुण होना अनिवार्य है। इससे स्पष्ट होता है कि नाटक और रंगमंच में अटूट संबंध है। नाटक कल्पना की वस्तु नहीं है, बल्कि रंगमंच की वस्तु है। इसीलिए नाटककार को अभिनय का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है। हमारे यहाँ के प्राचीन नाटकारों ने भी अपने युग के रंग मंच को ध्यान में रखते हुए नाटकों की रचना की थी और ठीक यही बात दूसरे

देशों के साथ चरितार्थ होती है। हमारे यहाँ के प्राचीन नाट्यशास्त्र में बहुत से नियमों का विधान तत्कालीन रंगमंच की सुविधा को ध्यान में रखकर हुआ था।

रंगमंच की दृष्टि से जब हमारे आलोचक प्रसादजी के नाटकों पर विचार प्रकट करते हैं तब कहा करते हैं कि प्रसादजी ने अपने नाटकों की रचना करते समय अभिनय का कुछ भी ध्यान नहीं रखा, इसीलिए उनके नाटकों में काव्यकल्पना का प्राचुर्य, भाषा क्लिष्ट, गीत अति साहित्यिक और लम्बे हैं। परन्तु वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो ऐसी बात नहीं ठहरती है। उन्होंने अधिकांशत अपने नाटकों की रचना रंगमंच की दृष्टि से की है, न कि साहित्यिक पाठ्य-नाटक बनाया है। ऐसा हम क्यों कहते हैं, इसका भी निश्चित कारण है, वह यह कि उन्होंने अपने कुछ नाटकों में गाने की स्वर-लिपिदी है, जिससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने नाटकों की सृष्टि अभिनय की दृष्टि से की थी। वह हम स्वीकार करते हैं कि 'प्रसाद के नाटक अवश्य साहित्यिक हैं और इसीलिए वे निम्न (Cheap) नहीं हैं। इन नाटकों की साहित्यिकता तभी तक अखरती है जबतक हम निम्न कोटि के रंगमंच और दर्शकों को ध्यान में रखकर नाटक-निर्माण की बात सोचते हैं। किन्तु यह एक भूल है। प्रसादजी ने इसका अनुमान किया था कि निम्न-श्रेणी के रंगमंच और दर्शकों के लिए नाटक लिखना साहित्य को क्षति पहुँचाना है। वैसी दशा में साहित्य का विकास रुक जायगा। साहित्य हैं साध्यऔर रंगमंच है साधन। साध्य के लिए साधन को सधना चाहिये'। अतः रंगमंच को साहित्य का अनुकरण

करना चाहिये, न कि साहित्य को रंगमंच का। प्रसादजी ने अपने नाटकों के संबंध में 'विशाख' की भूमिका में लिखा है–'आजकल के पारसी रंगमंचों के अनुकूल ये नाटक कहां तक उपयुक्त होंगे, इसे मैं नहीं कह सकता क्योंकि उनका आदर्श केवल मनोरंजन है। हाँ जातीय आदर्शों से स्थापित यदि कोई रंगमंच, जहां की चमक-दमक से विशेष ध्यान पात्रों के अभिनय पर और आदर्श के विकास पर रक्खा जाता हो, कोई सम्मति अपने अभिनय में अड़चन पड़ने को दे तो मैं उसे स्वीकार करने के लिए सर्वथा प्रस्तुत हूँ'। इस उक्ति से स्पष्ट होता है। कि प्रसादजी ने अपने नाटकों का निर्माण रंगमंच को ध्यान में रखकर किया है। हाँ, सिर्फ 'जातीय आदर्शों से स्थापित रंगमंच की दृष्टि से प्रसादजी के नाटकों को परखें तो कहाँ तक वह सफल होगा, इसके उत्तर में प्रो० शिलीमुख ने कहा है कि 'हिन्दी में इस प्रकार का (अभिनय) प्रश्न अभी कुछ कृत्रिम-सा जँचता है। हिन्दी में अभी थियेटर कहाँ हैं? हिन्दी रंगमंच कह कर हम हिन्दी की किस सम्पत्ति का गर्व कर सकते हैं? पारसी मंच और बंगाली मंच अवश्य इस देश में हैं, पर किसी विशिष्ट मंच का हमको ज्ञान नहीं।' इससे ज्ञात होता है कि बिना समझे-बूझे उनके नाटकों के संबंध में कह दिया जाता है कि वे अभिनय के योग्य नहीं है परन्तु इससे बढ़कर आश्चर्य तो तब होता है जब उनके नाटकों का प्रदर्शन सहृदय समाज अधिवेशनों या उत्सवों में कर दिखलाता है। सच तो यह है कि 'रंगमंच के संबंध में यह एक भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चहिये कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो व्यावहारिक है। हां रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता

तथा मर्म सूत्रकार के सहयोग की आवश्यकता है। फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु रूप से करेंगे। इन सब के सहयोग से ही रंगमंच का अभ्युत्थान संभव है'।

'रंगमंच की बाध्य-बाधकता का जब हम विचार करते हैं, तो उसके इतिहास से यह प्रकट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और प्रत्येक काल में माना जायगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्य की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है'। †

अतः यह स्पष्ट होता है कि प्रसादजी ने अपने नाटकों का निर्माण वर्तमान साधारण हिन्दी रंगमंच को ध्यान में रख कर नहीं किया है। यही कारण है कि साधारण दर्शकों के लिए उनकी भाषा, उनके गीत अति क्लिष्ट एवं दुरूह मालूम पड़ते हैं, जिसके कारण वे नाटक अध्ययन की सामग्री बन गए। वस्तुतः उनके नाटकों को समझने के लिए दर्शकों को प्रसाद के हृदय के निकट जाना पड़ेगा।

अभिनय की दृष्टि से उनके नाटकों पर जो आक्षेप होते हैं या जो दोष मढ़ा जाता है, उसके मुख्य पाँच कारण ❀ दीख पड़ते हैं—

(क) नाटक की लम्बाई अधिक है, जो तीन-चार घण्टों के अन्दर नहीं समाप्त किया जा सकता है।

---

† काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—जय शंकर प्रसाद।

❀ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—ग० ज० शर्मा डि० लिट०।

(ख) नाटक के कथनोपकथन विस्तृत हैं जिसके अन्तर्गत स्वगत् भाषण एवं संवाद हैं, जो रंगमंच के अनुकूल दृष्टिगत नहीं होते।

(ग) गीतों की संख्या अधिक और लम्बे हैं, जिससे दर्शक का मन ऊब जाता है।

(घ) नाटकों के अन्तर्गत काव्य-तत्वों का आधिक्य।

(ङ) रंगमंच की दृष्टि से उनके नाटकों के दृश्यों का विभाजन दोषपूर्ण है।

चैन्डूलर ने नाटक के अभिनेयता के तीन गुण बतलाये है—वे हैं—

(क) नाटक की लम्बाई—नाटक के तीन या चार घण्टे यथेष्ट हैं।

(ख) नाटक की भाषा सरल, सुवोध एवं सहज होनी चाहिये।

(ग) नाटक के गीत समय के अनुकूल हों।

पहले हमने प्रसादजी के नाटकों के दोषों के संवंध में कह दिया है, जिसके अंतर्गत मिस्टर चैन्डूलर की विशेषतायें सन्निहित हैं। अब हम उन दोषों का अन्वेषण प्रसाद जी के 'अजातशत्रु' में एक-एक कर करते हैं, देखिये—

(क) नाटक की लम्बाई की दृष्टि से—अजातशत्रु तीन अंकों का नाटक है। प्रथम अंक में नव दृश्य, द्वितीय अंक में दस और तृतीय में नव दृश्य हैं। इस प्रकार कुल मिला कर नाटक में

अठाईस दृश्य हैं। अठाईस दृश्यों का यह नाटक कम से कम चार घंटों में खेला जायगा और इसके दस दृश्य व्यापार-विहीन हैं। इसमें पात्रों की संख्या भी अधिक है।

(ख) कथनोपकथन की दृष्टि से—अजातशत्रु के बहुत से संवाद लम्बे हैं, सिर्फ कुछ स्थलों पर छोटे-छोटे संवाद हैं जो संघर्षमय है। कथनोपकथन का व्यवहारानुकूल, भावव्यंजक, संघर्षमय एवं चुस्त होना अनिवार्य है क्योंकि यह नाटक की रीढ़ है। कथनोपकथन ही पात्रों के चरित्र का द्योतक है। कथनोपकथन की भाषा रस-संचार में भी सहायक होती है। कहीं-कहीं तो कथनोपकथन अरुचिकर हो गया है जैसे करुणा के ऊपर गौतम की व्याख्या। यों तो कहीं-कहीं पात्रों के भावावेश के कारण नाटक की भाषा में परिवर्तन हो गया है परन्तु इस नाटक की भाषा साधारण दर्शक के उपयुक्त नहीं है। इसमें दार्शनिक पात्रों के कथनोपकथन में यथेष्ट सजीवता एव जिन्दादिली नहीं है। इसका फल यह होता है कि नाटकीय क्रिया-व्यापार में शैथिल्य आ जाता है। उनके लम्बे-लम्बे संवाद में व्यावहारिक जगत के व्यवसाय का पूर्णतः अभाव रहता है और वे सब पात्र सिर्फ दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं, जिसके कारण कथावस्तु आगे तेजी के साथ नहीं बढ़ पाती है। उनके कथनोपकथन में दार्शनिक विचारों का परस्पर आदान-प्रदान हुआ अवश्य है पर दर्शक उनके दार्शनिक विचारों को सुन कर प्रसन्न नहीं होते क्योंकि वे तो कुछ क्रियाशील कार्यों को सम्पन्न होते देखना चाहते हैं। अजातशत्रु के कई स्थलों पर बड़ी-बड़ी स्वगतोक्तियां हैं। अभिनेयता की

दृष्टि से इनकी गणना त्रुटियों में है। इसकी भाषा इतनी क्लिष्ट हो गई है कि न तो दर्शकगण उसे समझ सकते हैं और न पात्र ही भावानुरूप उसका प्रकटीकरण कर सकते हैं। यह चरम सत्य है कि अजातशत्रु के कथनोपकथन की भाषा उनके और नाटकों से अत्यन्त पद्यशैली एवं क्लिष्ट है। 'वास्तव में उनके सबसे कठिन नाटक अजातशत्रु में दस-बारह स्थलों को छोड़कर अन्यत्र बहुत अधिक क्लिष्ट भाषा नहीं मिलती।...यदि नाटक में से 'उदयन की निर्निमेष मुखचन्द' वाली उक्ति या बिम्बसार और वासवी के पूरे वार्त्तालाप को निकाल दें तो भी अभिनय को कोई हानि नहीं पहुंच सकती।' ॐ 'अजातशत्रु' के बिम्बसार, विरुद्धक और वाजरा का स्वगत-भाषण दर्शकों को अच्छा नहीं लगता। इन सबों का स्वगत-भाषण भी बहुत लम्बा है। अच्छा तो यह होता कि वे सब संक्षिप्त होते और उसके संक्षिप्त होने के कारण वे अधिक नहीं खटकते। बाजरा का स्वगत भाषण अगर दो पात्रों के बीच का संवाद बना दिया जाता तो दर्शकों की दृष्टि से वह अधिक मनोरंजक एवं स्वाभाविक हो जाता। इस प्रकार वह जो अस्वाभाविकता बनी हुई है वह दूर हो जाती। दूसरे अङ्क के तीसरे दृश्य में मल्लिका एक कहानी कहती है और महामाया 'फिर क्या हुआ?' 'उस युद्ध में क्या हुआ?' आदि कहती जाती है। वास्तव में रङ्गमंच पर इस प्रकार का व्याख्यात्मक कथनोपकथन उपयुक्त नहीं है और इससे दर्शक का मन ऊब जाता है। इस दृष्टि से अजातशत्रु का नाटककार अपनी

ॐ प्रसाद की नाट्य कला।

नाट्य-कला में अपरिपक्व हैं। क्रमशः ये दोष उनके नाटकों से दूर होता गया है।

(ग) गीत की दृष्टि से—अजातशत्रु एक गम्भीर नाटक है। इसमें छोटे बड़े मिला कर बीस गीत हैं। इस प्रकार देखते हैं कि इसमें गीतों की लड़ियाँ बहुत है और विशेष कर निम्नलिखित गीत दर्शकों के मन में खीझ उत्पन्न कर देता है--

(i) निर्जन गोधूली प्रान्तर में खोले पर्ण कुटी के द्वार।

(ii) अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब।

(iii) चल वसन्त वाला अंचल से किस घातक सौरभ में मस्त।

'अजातशत्रु' में मागन्धी का बार बार गाना भी दर्शक को अच्छा नहीं जँचता। नाटकीय स्वाभाविकता की दृष्टि से इसके अनेक गीत अनिवार्य नहीं प्रतीत होते और उनके अभाव में अभिनय का कार्य सहज में सम्पन्न हो सकता है लेकिन नाटककार का यह दोष है कि उसने गीतों की संख्या अधिक रखी है। इसके कुछ गीत तो रहस्यवादी हैं जो दर्शक के लिए नयी वस्तु है। इसके गीतों के भाव अस्पष्ट हैं, उनके समझने के लिए बड़ा प्रयास करना पड़ता है। वास्तव में बहुत से गीत अवसरोपयुक्त नहीं है। नाटक की दृष्टि से उन गीतों का महत्व घट जाता है, यह प्रसाद की नाटकीय कमजोरी है।

(घ) काव्य तत्वों की दृष्टि से—'अजातशत्रु' में काव्य तत्व की प्रचुरता है, जिसके कारण भावों का संवेदन कम हो

जाता है और सामाजिक रसास्वादन में असमर्थ रह जाते हैं।' इसका एक मात्र कारण यह है कि 'अजातशत्रु' के पात्र मूलतः दार्शनिक हैं, जिसके कारण उनके संवादों में सजीवता नहीं रहती। इसके पात्रों में बिम्बसार, वासवी, गौतम, जीवक और मल्लिका आदि सभी दार्शनिक हैं, जिनके संवाद में न सजीवता है और न कोई उत्सुकता। वे पात्रगण रह रह कर काव्यात्मक उक्ति बकने लगते हैं और दर्शक उन उक्तियों को सुन हक्का-बक्का हो जाता है। उनके कथनों में लौकिकता नहीं रहती बल्कि अलौकिकता का आवरण चढ़ जाता है, जो मनोरंजक नहीं होता। बिम्बसार, उदयन और मागन्धी का कथन कहीं कहीं पूरा गद्य-काव्य बन गया है। दार्शनिक पात्रों के कारण इसकी भाषा काव्यात्मक बन गई है, नहीं तो ऐसी भाषा नहीं होती। दूसरा कारण है उनका कवि-हृदय उछल पड़ा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिनय-कला की दृष्टि से नाटकीय क्रिया-व्यापार में एक प्रकार की शिथिलता उत्पन्न हो गई है।

(ङ) रंगमंच की पद्धिति से—'प्रसाद के रूपकों में दृश्यों का विभाजन दोषपूर्ण है। रंगमंच का विस्तार परिमित होता है। उसी में सब प्रकार के दृश्यों की व्यवस्था करनी होती है। यदि दृश्य विभाजन का यह क्रम हो कि दो दृश्य आगे-पीछे ऐसे रख दिए जायँ जिनमें स्थान और सज्जा अधिक अपेक्षित हो तो रंगमंच का प्रबन्ध बिगड़ जायगा। यदि शैल-कानन-स्थानीय गुरुकुल और राज सभा के दृश्य आगे पीछे रख दिये जायँ तो या तो पहले दृश्य को संकुचित करना पड़ेगा अथवा दूसरे को।

अभीष्ट विस्तार के साथ दोनों दृश्य नहीं दिखाये जा सकते। समय की कमी और रंगमंच की परिमिति इसका विरोध करती है। प्रसाद ने अपने नाटकों में इसका विचार कम रखा है।' यों तो प्रसाद जी ने दृश्यों की योजना का विचार रखा है परन्तु कही कहीं वे निर्दिष्ट दृश्य को भूल गये हैं। इसी प्रकार अजातशत्रु के द्वितीय अङ्क के प्रथम दोनों दृश्य यथा क्रम चल सकते हैं, क्योंकि तीन फूट का विस्तार लेकर जब तक द्वितीय दृश्य में पथ का विषय चलता रहता है तब तक प्रथम दृश्य की राजसभा की सजावट हटा दी जा सकती है।' प्रसाद जी ने 'अजातशत्रु' के तृतीय अङ्क के प्रथम दृश्य में मगध का राजकीय भवन दिखलाया है और ठीक इसके बाद द्वितीय दृश्य में कोशल राजमहल से लगा हुआ वन्दी गृह दिखलाया गया है। उससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद जी ने दोनों दृश्यों के विस्तार पर कभी विचार नहीं किया है। वस्तुतः इस प्रकार के दृश्य क्रम इनके अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होता है। इसके मूल में बात तो यह है कि नाटककार प्रसाद को रंगमंच की व्यवस्था का व्यावहारिक ज्ञान (Practical knowledge) अर्जित नहीं था, जिसके हेतु दृश्यों में इस प्रकार का क्रम रह जाता था। इसके विरुद्ध भी लोग यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि प्रसाद जी द्वारा निर्दिष्ट दृश्यों के लिये अलग अलग परदे होते, परन्तु उनकी संख्या काफी हो जाती और सम्पन्न कम्पनियों के द्वारा भी उतने परदे जुटाना दूभर हो जाता। ऐसे तो आजकल यांत्रिक रंगमंग (Mechanized Stage) पर

अति कठिन से कठिन दृश्य भी प्रदर्शित हो सकते हैं, परन्तु भारत ऐसे देश के लिये दुर्वार हैं।

अजातशत्रु में लौकिक व्यवसाय के अभाव के कारण नाटकीय क्रिया व्यापार में कहीं कहीं शिथिलता उत्पन्न हो गई है जिससे दर्शकों का मन ऊबने लगता है। अजातशत्रु में कुछ ऐसे नाटकीय (Dramatic Scenes) दृश्य भी हैं जिन्हें देखकर दर्शक चमत्कृत हो उठते हैं। वे दृश्य हैं—'दासीवीणा लेकर आती है और उदयन के सामने रखती है, उदयन के उठाने के साथ हीं सांप का बच्चा निकल पड़ता है—मागन्धी चिल्ला उठती है' —

—अङ्क १ दृश्य ५।

उदयन—देवी! मेरा तो हाथ ही नहीं उठता है, यह क्या माया है।

—अङ्क १ दृश्य ६।

'विरुद्धक तलवार खींचता हुआ निकल जाता है, फिर बन्धुल भी चकित हो कर चला जाता है।'

—अङ्क २ दृश्य २।

गौतम का प्रवेश, अभय हाथ उठाते हैं।

—अङ्क २ दृश्य ६।

इसके अतिरिक्त, नाटककार ने दर्शकों का उत्साह बनाये रखने के लिए एवं मन मुग्ध कर लेने के लिए उदयन और मागन्धी के प्रेम संभाषण के दृश्य (अङ्क १ दृश्य ५) और

वात्सल्य के दृश्य उपस्थित किये हैं, जिससे दर्शकों के मन की थकान कभी कभी दूर हो जाती है। फिर भी इस नाटक का प्रथम एवं अन्तिम दृश्य बड़ा ही रोचक एवं आकर्षक हुआ है।

यह सत्य है कि प्रसाद जी के नाटक 'मूलतः व्यावहारिक अभिनय के लिए नहीं लिखे गए हैं।' यों तो थोड़ा बहुत, इधर उधर कर हम अजातशत्रु को अभिनय के उपयुक्त बना सकते हैं, परन्तु इसके अभिनय के लिए साहित्यिक अभिरुचि का अभिनेता हो जो उनके नाटकों की परिष्कृत भाषा के संवादों का अर्थ समझ सके। 'इस में सन्देह नहीं कि अभिनय कला के प्रदर्शन के लिए प्रसाद जी के नाटकों में 'गुंजाइश है, लेकिन हिन्दी रंगमंच विकसित न होने से उनकी प्रसिद्धि अभिनय पर निर्भर न रहीं। इसके साथ जनता की अशिक्षा और पारसी कम्पनियों और उनके बाद सिनेमा की लोकप्रियता भी प्रसाद जी के नाटकों के अभिनीत न होने के लिए उत्तर दायी है।' इस पर भी अगर 'अजातशत्रु' का अभिनय सफलता पूर्वक हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बस !!

अजातशत्रु की नाट्यकला

नाटककार प्रसाद का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जिस समय आधुनिक हिन्दी नाट्य रचनाओं पर मुख्यतः बंगला नाटकों का प्रभाव पड़ चुका था और उस समय पारसी कम्पनियों की जड़ जम चुकी थी। अभी तक हिन्दी का कोई मौलिक सिद्धान्त नहीं था। यों तो कहीं कहीं कुछेक नाटककारों ने अपनी प्रतिभा-बल पर मौलिकता-प्रदर्शन करनेका स्तुत्य प्रयास किया परन्तु उनकी संख्या परिमित है। वस्तुतः उस युग के नाटककारों पर अंग्रेजी के नाटकीय सिद्धान्तों का अधिक प्रभाव था क्योंकि भारतीय साहित्य में बंगला साहित्य ने ही सर्वप्रथम अंग्रेजी सिद्धान्तों को अपनाया और इसी बंगला साहित्य के द्वारा इसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा। यों तो इन अंग्रेजी-नाटकीय सिद्धान्तों की ओर भारतेन्दु-युग के नाटककारों का ध्यान आकृष्ट हो ही चुका था। 'इस प्रकार हिन्दी नाटकों पर बंगला साहित्य के द्वारा अंग्रेजी साहित्य का अप्रत्यक्ष प्रभाव बहुत दिनों से रहा है'। यहाँ पर यह बतला देना अनिवार्य है कि हिन्दी नाटकों में हमें एलिजाबेथ-काल के रोमान्टिक नाटक की प्रवृत्ति ही प्रधानता के साथ दिखाई देती है क्योंकि उस काल के नाटकीय आदर्शों और सिद्धान्तों का साम्य संस्कृत नाट्यशास्त्र से अधिक है परन्तु यूनानी और अर्वाचीन अंग्रेजी नाट्यसिद्धान्त भारतीय नाट्यशाला के अनुरूप नहीं हैं। शेक्सपियर और उसके समकालीन नाटकों का वातावरण

भारतीय संस्कृत नाटकों के रोमान्टिक वातावरण के सदृश्य ही है, इसीलिए दोनों एक दूसरे के समीप हैं। यही कारण है कि इब्सन, शा, गाल्सवर्दी आदि का प्रभाव बंगला के द्विजेन्द्रलाल राय आदि नाटककारों पर अल्प मात्रा में है।

यह तो हम कह ही चुके हैं कि जिस समय प्रसादजी का आविर्भाव हुआ था उस समय बंगला भाषा में नाट्य-रचना का प्रचलन पर्याप्त था। अतः उस ओर प्रसादजी की दृष्टि का जाना स्वाभाविक ही है और वहाँ उन्हें तीन प्रकार के नाटक मिले—गीति नाटक, कल्पित नाटक और ऐतिहासिक नाटक। गीति-नाटक के रूप में उन्होंने 'करुणालय' का निर्माण किया जिसमें अतुकान्त पद्यों का उपयोग हुआ है। इस प्रकार की रचना उन्होंने अंग्रेजी में वर्डस्वर्थ के ब्लैंकवर्स तथा बंगला के माइकेल मधुसूदन दत्त की रचनाओं से प्रभावित होकर की। प्रसादजीकी नाट्यरचना द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों से अधिक प्रभावित है, इसीलिए उन्होंने राय के नाटकों का ऐतिहासिक ढंग भी अपनाया जिसके फलस्वरूप राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों की रचना हुई। द्विजेन्द्रलाल राय स्वयं अंग्रेजी के ऐतिहासिक नाटकों से प्रभावित हुए थे, इसीलिए उनके नाटक में पश्चिमी प्रभाव स्पष्ट है। यही कारण है कि प्रसादजी के नाटकों में पश्चिमी-नाट्य-सिद्धान्तों के उपकरणों का होना अत्यन्त अनिवार्य है। इसके साथ 'अपनी रुचि और संस्कृति के कारण प्रसादजी सबसे अधिक भारतीय भी हैं, इसलिए प्रसादजी की नाट्यकला एक रूप से पूर्व और पश्चिम नाट्यशास्त्रों की सम्मे-

लन भूमि है जिसको उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर बहुत कुछ नया रूप दे डाला है'। प्रसादजी के संबंध में रविबाबू के सम्बन्ध में कही गई उक्ति पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है कि—

He is culling honey from foreign flowers to enrich his home; but quite national in tone and spirit. H. P.

अर्थात् 'वे बाहर के फूलों से मधु ले अपने घर का शृंगार कर रहे हैं। उनके स्वर और अन्तर स्वदेशी हैं।'

यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि हिन्दी साहित्य में मौलिक नाटकों का श्रीगणेश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही किया और उन्होंने नाट्यरचना के संबंध में जो कुछ लिखा है वह ध्यान देने योग्य है। बाबू साहब ने अपने एक निबन्ध में इस पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—

'नाट्य कला-कौशल दिखाने को देश-काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्व काल में लोकातीत असंभव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयग्राहिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती। अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितान्त अरुचिकर है। इसलिये स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है। इसमें अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशी' प्रभृति नाट्या-

लंकार, कहीं 'प्रकरी, कहीं 'विलोचन', कहीं 'संफेट', कहीं 'पंचसंधि आदि ऐसे ही अन्य विषयोंकी कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भांति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना, या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक भरकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है'।

वस्तुतः भारतेन्दुजी द्वारा कही गई बातयथार्थ है और यह स्वीकार करना पड़ता है कि भारतीय प्राचीन पद्धति के अध्ययन एवं मनन से आज के युग में भी श्रेष्ट नाटक के प्रणयन में अधिक सहायता हस्तगत होती है। प्रसादजी भी भारतेन्दुजी के विचार से साम्य रखते हैं और 'रंगमंच' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं कि—

'युग की मिथ्याधारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज में, इस नियम का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण करके जैसा पश्चिम ने नाट्यकला में अपनी सब वस्तुओं को स्थान दिया है, वैसा क्रम विकास कैसे किया जा सकता है यदि हम पश्चिम के आज को ही सब जगह खोजते रहेंगे! और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगो के सोचने, निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है! अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का निमंत्रण नहीं करता। वर्तमान और प्रति क्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुन्दर निर्माण के लिए। कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करने वाले नाटक के लिए तो ऐसी 'जल्द-बाजी' बहुत ही अवांछनीय है। यह रस की भावना से अस्पष्ट

व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता का ही आकर्षण है जो नाटक के सम्बन्ध में विचार करने वालों को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील विश्व है किन्तु अधिक उछलने में पद-स्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है किन्तु इतना ही अलम नहीं। जब हम समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का—जो सर्वोत्तम है—अनुकरण करना चाहिए तो हमारा दृष्टिकोण भ्रम पूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देख कर ही भविष्य का निर्माण होता है; इसलिये हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। जिस तरह हम स्वाभाविक या प्राचीन शब्दों में लोक-धर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं ठीक उसी प्रकार से नाट्यधर्मी अभिनय की भी; देश-काल, पात्र के अनुसार रंगमंच संग्रहीत रहना चाहिए। पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़ कर नये को नहीं पाया है'।❀

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ भारतेन्दु ने बाह्य रूप पर ही अपना अधिक ध्यान दिया वहाँ प्रसाद ने उसके बाह्य एवं आन्तरिक रूप पर भी। अतः प्रसाद की प्रतिभा ने कला की पदार्थनिष्ठता (Objectivity) और अधिकरणनिष्ठता (Subjectivity)के बीच से एक स्वतंत्र नाट्य शास्त्र का विधान उपस्थित किया।

भारतवर्ष में नाट्यशास्त्र पर सबसे पहला प्राचीनतम प्राप्त ग्रन्थ भरतमुनि का है, यद्यपि पाणिनि के व्याकरण में नाट्यशास्त्र

❀ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० सं० ७४।

के दो आचार्यों—शिलालिन्द और कृशाश्व का नाम आया है, परन्तु उनका कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इस दृश्य काव्य को अर्थात नाटक को प्राचीन आचार्यों ने रूपक की संज्ञा प्रदान की है। इसके दो भेद हैं—रूपक और उपरूपक। रूपक के दस भेद हैं और उपरूपक के अठारह। ये जो भेद किये गये हैं वे तीन आधारों पर अवलम्बित हैं और वे विशेष अंग हैं--वस्तु, नायक और रस। भारतीय नाट्यकला के कुछ विशेष सिद्धान्त है, जिसके आधार पर भारतीय आचार्यों ने अपने नाटकों का निर्माण किया है। 'साहित्य दर्पण' के अनुसार नाटक के निम्न लक्षण हैं—

नाटक की कथावस्तु प्रख्यात (Traditional) होनी चाहिये। इसमें पांच सन्धियां रहनी चाहिये और वे हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। इसमें विलास, समृद्धि आदि गुणों और अनेक प्रकार के ऐश्वर्य का वर्णन हो। इसमें सुख-दुःख की उत्पत्ति दिखलायी जायी और प्रत्येक रस से अन्वित हो। इसमें पाँच से लेकर दस अंक हो। नाटक का नायक एक ऐसा व्यक्ति हो, जो दिव्य अथवा दिव्यादिव (अर्थात् जो दिव्य होने पर भी अपने को मानव ही समझे जैसे श्री रामचन्द्रजी) अथवा नामांकित वंश का कोई गुणवान धीरोदात्त राजर्षि हो। नाटक में वीर या शृंगार रस की प्रधानता हो और अन्य रस गौण हों पर निर्वहण सन्धि अद्भुत रस होना चाहिये। कार्य-व्यापार की सिद्धि के लिए चार या पाँच पात्र मुख्यतः चेष्टाशील रहें और नाटक के अंक उत्तरोत्तर 'गोपुच्छाग्र' की भांति छोटे होते जायँ। ❀

❀ नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसंधिसमन्वितम्।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद्युक्तं नाना विभूतिभिः॥

इस प्रकार प्रत्येक रूपक के तीन आवश्यक तत्व कथावस्तु, नायक-नायकादि पात्रगण तथा रस माने गए हैं। नाट्यकला पर पश्चिम का सर्वप्रथम ग्रन्थ यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू कृत 'पोइटिक्स' (Poetics) है। अरस्तू ने नाटक के छः तत्व माने हैं और ये हैं—कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, भावावेग, साज-सज्जा और संगीत। ❀ यहां पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस प्रकार भरतमुनि ने वस्तु, नेता और रस की प्रधानता दी है उसी प्रकार अरस्तू ने भी वस्तु (Plot) पात्र (Character) भावावेग अर्थात् रस (Thought) इन्हीं तीनों को मुख्य माना है। +

सुखदुःखसमुद्भूति नाना रसनिरन्तरम्।
पञ्चादिका दशपरास्तत्रांङ्काः परिकीर्तिताः॥
प्रख्यात वंशो राजार्षिधीरोदात्तः प्रतापवान्।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायकोमतः॥
एक एव भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः॥
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृत पूरुषाः।
गोपुच्छाग्र समाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्॥
(साहित्यदर्पण—६-७-११)

❀ Every tragedy, threfore, must have six parts, which parts, determine its quality—namely, plot, character Diction, Thought, Spectacle, Song.

+ The plot is, then, the first principle and. as it were, the soul of tragedy, character holds the second place. The third in order is thought.

—Poetics, page 25.

नाटक के आख्यान को वस्तु कहते हैं जो आधिकारिक और प्रासंगिक दो प्रकार की होती है। मूल कथा को आधिकारिक एवं गौण कथा को प्रासंगिक कहते हैं। आधिकारिक कथा वह है जिसमें प्रधान पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली कथा का मुख्य विषय हो। १ प्रासंगिक कथावस्तु का उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तु की सौंदर्य वृद्धि करना और उसकी गति बढ़ाने में सहायता करना होता है। २ कथावस्तु को अपने अभीष्ट तक पहुँचाने वाले चमत्कार: पूर्ण अंशों (Elements of plot) को अर्थ-प्रकृति कहते हैं और वे हैं (क) वीज ३ में आरंभ पाते हैं, (ख) विन्दु ४ में वीज का अंकुर पाते हैं, (ग) पताका ५ जो अधिकारिक के विकास में सहायता या बाधा देते हुए बरावर, कभी कभी अंत तक चलती रहती है (घ) प्रकरी ६ जो साधारण तथा थोड़े समय के लिए काम में लाई जाती है और जिसका मुख्य पात्रों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, और (ङ) कार्य ७ जिसकी सिद्धि के लिए सब उपाय किए गए हों। इन्हीं के अनुरूप नाटक में व्यापार-शृंखला की पांच अवस्थाएँ

---

१. अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारीच तत्प्रभुः।
तन्निवर्त्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादधिकारिकं।

२ प्रासंगिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगतः।

३ स्वल्प मात्रं समृत्सृष्टं बहुधा यद्विसर्पति, फलावसानं।

४ प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्। यावत्समाप्तिर्बन्धस्य ॥

५-६ सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेश भाक्।

७ यादाधिकारिकं वृत्तं तदर्थो य समारंभः ॥

(Stages of development) होती हैं (क) आरंभ ८ जिसमें फल प्राप्ति की उत्कंठा होती है। (ख) प्रयत्न ९ जिसमें फलप्राप्ति के लिए कुछ उद्योग होता है। (ग) प्राप्त्याशा प्राप्ति संभव १० जिसमें सफलता की संभावना या आशा हो यद्यपि साथ ही विफलता की आशंका भी बनी रहती है। (घ) नियताप्ति ११ जिसमें संभावना या आशा निश्चय में बदल जाती है और (ङ) फलागम १२ जिसमें सफलता प्राप्त हो जाती है। योरोपीय समीक्षा शास्त्र में भी इसी प्रकार की पांच अवस्थाएँ मानी गई हैं। वे है—(क) व्याख्या (Exposition or Initial incident) (ख) विकास (Grouth or Rising action) (ग) चरम सीमा (Climax) (घ) निर्वहण अथवा निर्गति (Denouement) और (ङ) परिणाम (Catastrophe)। ऊपर निवेदित पाँच अवस्थाएँ जब विकासोन्मुख रहती हैं तब कथानक के प्रधान एवं गौण अंशों का मेल मिलाने के लिए संधियां होती हैं, जो अवस्थाओं के अनुसार पाँच हैं—(क) मुख (ख) प्रतिमुख (ग) गर्भ (घ) विमर्श या अवमर्श (ङ) निर्वहण या उपसंहार। ये सन्धियाँ एक एक अवस्था की समाप्ति तक चलती है और उनके अनुकूल अर्थप्रकृतियों से योग कराती हैं। अभिनय की दृष्टि से समस्त वस्तु के दो विभाग हैं— (क) दृश्य, जो बातें रसादिसंयुक्त मधुर हों, वे अभिनय के

८ औत्सुक्य मात्रामारंभो फललाभाय भूयस ।

९ प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारो ऽतत्वरान्वितः।

१० उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्ति संभवः।

११ अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ।

१२ समग्रफल संपत्तिः फलयोगो यथोदितः।

समय रंगमंच पर प्रदर्शित किए जायँ (ख) सूच्य जो अंश नीरस एवं किसी कारण अनुचित हो जैसे युद्ध, वध, मृत्यु आदि, उसकी सिर्फ सूचना मात्र दे दी जाय। अभिनय में नायक या नायिका की मृत्यु का दिखलाना या सूचना देना बिल्कुल निषेध है।

नाटक में प्रायः पाँच से दस अंक तक रहा करते हैं। जहाँ तक हो सके, प्रत्येक अंक एक ही दिन की घटना तक परिमित रहे और वह भी एक ही कृत्य के सम्बन्ध में। एक घटना से दूसरी घटना का संबन्ध होना अनिवार्य है। अंकों को इतना सम्बद्ध होना चाहिये कि जिसमें एक घटना दूसरी घटना से साधारणतः निकलती हुई जान पड़े। अंको में वस्तु-विन्यास सम्यक् रीति से होना चाहिये। एक अंक दूसरे अंक के ऐसे पूरक हों कि उनके उनके बीच के समय की घटनाओं का उल्लेख ही न हो। नाटककार इसमें कुशल रहे कि उसे यह यह बतलाने की आवश्यकता प्रतीत न हो कि बीच में कितना समय बीता है। प्रायः दो अंकों के मध्य में एक वर्ष तक का समय अन्तर्हित रहता है। अगर उसके बीच समय का अंतर हो तो उसकी सूचना देने के लिए पाँच प्रकार के दृश्यों का विधान किया है, जिसे अर्थोपक्षेक कहते हैं और वे हैं— विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य, और अंकावतार।

नाटक की कथावस्तु कथोपकथन अथवा संवाद के रूप में रहती है और इसी के आधार पर उसके तीन विभाग किए गए हैं-- (१) श्राव्य (जो सब सुन सकते हैं) (२) अश्राव्य (जो दूसरे पात्रों को सुनने के लिए न हो, जिसे Soliloque कहते है) और (३)

नियत श्राव्य (जो कुछ पात्रों के सुनने के लिए हो और कुछ के लिए न हो, जिसे Aside कहते हैं)। नियत श्राव्य के भी दो भेद होते हैं—(i)अपवारित और (ii) जनांतिक। अपवारित छिपी हुई बात का नाम है और जनांतिक दो पात्रों का गुप्त संभाषण।

किसी नाटक का अभिनय आरंभ करने के पहले कुछ कृत्य किए जाने का शास्त्रीय विधान है, उसी को पूर्वरंग या प्रस्तावना (Prelimnary or proeogue) कहते हैं। नगाड़ा बजाकर अभिनय के आरंभ होने की सूचना दी जाती थी और नान्दी-पाठ से होता है। इसके अनन्तर सूत्रधार आकर मंगल का श्लोक पढ़ता है और प्रस्तावना में परिपार्श्वक, विदूषक या नट से बातचीत कर नाटक और नाटककार का परिचय देकर नाटक आरंभ कराता है। प्रस्तावना पाँच प्रकार की है—कथोद्घात, प्रवर्तक, उद्घात्यक, प्रयोगातिशय और अवगलित।

कथावस्तु के सम्बन्ध में अरस्तू ने लिखा है कि—

'नाटक मनुष्य का नहीं, किन्तु उसके जीवन की कृति का का अनुकरण है। जीवन कृतिमय है। जीवन का अन्तिम ध्येय उसकी विशेष प्रकार की कृति है, न कि उसका गुण। मानव-चरित्र उसके गुणों से बनता है, परन्तु मनुष्य का सुख-दुःख उसकी कृति पर निर्भर है। अतः नाटक, चरित्र का अनुकरण करने के लिए कृति का अनुकरण नहीं करता, परन्तु कृति के अनुकरण के अन्तर्गत चरित्र का अनुकरण आ जाता है। इस प्रकार नाटक का अंतिम ध्येय कृति एवं कथानक है और अंतिम ध्येय यही महत्व की बात है'।

इस प्रकार हमलोग देखते हैं कि भारतीय एवं पश्चिमी नाटकों के सिद्धान्तों में बहुत बड़ा साम्य है और इन दोनों के बीच जो अन्तर है, वह यह कि भारतीय नाटको का एक मात्र उद्देश्य है—आनन्द की प्राप्ति और यूरोपीय नाटकों के मूल में संघर्ष है, इसीलिए वहां के नाटक प्रायः दुखान्त होते हैं।

अजातशत्रु की कथावस्तु प्रख्यात है। इसकी वस्तु गौतमबुद्ध के समकालीन अजातशत्रु के जीवन की घटनाओं से लिया गया है। इसमें अनेक घटनाएँ हैं। इसमें तीन राज्यों—मगध, कोशल और कौशाम्बी की राजनीतिक घटनाओं का गठबन्धन सौन्दर्यपूर्ण हुआ है। एक ओर मगध में राजमाता छलना की कुमंत्रणा से उद्धत उद्दंड अजातशत्रु अपने पिता को राज्य त्याग करने को बेबस करता है और साम्राट-बिम्बसार राज्य का बागडोर अजात को सौंपकर वासवी के साथ वन में निवास करते हैं; दूसरी ओर कोशल के राजा उदयन की रानियों के बीच षड़यंत्र चल रहा है—विलासी शासक उदयन की नई रानी मागन्धी वीणा में सर्प का बच्चा रखकर राजा को पद्मावती के विरुद्ध भड़का देती और स्वयं बाद में सच्ची घटना का पता लग जाने पर वह महल में आग लगा कर भाग जाती है; तीसरी ओर कौशाम्बी का राजकुमार विरुद्धक अपने पिता प्रसेनजित के विरुद्ध विद्रोह की ध्वजा फहराता है और उसे निर्वासन मिलता है तब विरुद्धक डाकू शैलेन्द्र बनकर काशी में विद्रोह की आग भड़काता है। इसके अतिरिक्त, इसमें अन्य कई उपकथाएँ हैं। उदाहरण स्वरूप 'मागन्धी का श्यामा वैश्या के रूप में काशी में शैलेन्द्र से प्यार और अन्त में

त्यक्त हो कर आम्रपाली के रूप में सेवाव्रत लेना, प्रसेनजित का अपने सेनापति के विरुद्ध षड्यंत्र करके उसका बध कराना, फिर सेनापति की विधवा स्त्री के द्वारा उसकी रक्षा आदि अनेक और भी उपकथाएँ हैं। इस प्रकार एक ही नाटक में पाँच छः कथाओं का मिश्रण है। एक कथा आगे बढ़कर दूसरी कथा से उलझ जाती है और उनमें से कितनी नई कथाएँ निकल पड़ती हैं; एक चरित्र परिवर्तित होकर नया चरित्र बन जाता है; एक प्रसंग कई प्रसंगों से मिलकर अद्भुत रूप धारण कर लेता है। इस मिश्र कथा के निरन्तर उलझते हुए उठान और अन्त में उसका सुलझना स्वच्छन्दवादी कथानक की विशेषता है'। इस प्रकार हम देखते हैं कि संपूर्ण कथावस्तु का निर्माण ढ़ाई सहस्त्र वर्ष पहले की ऐतिहासिक घटना को लेकर हुआ है। वस्तु-संगठन अच्छा हुआ है। इस नाटक में संस्कृत नाटकों कीसी जटिलता (Complexity) आ गई है फिर भी उसका अविच्छिन्न विकास दर्शनीय है। इसमें तो अजातशत्रु की कथा मुख्य है ही, परन्तु उपकथाएँ जो प्रसंगवश आयी हैं, वे मुख्य कथा को आगे बढ़ाने में सहायक हैं। अतः ये कथाएँ सर्वांश में निरर्थक (Superflous) नहीं हैं बल्कि इनके आ जाने से कथा के बीच-बीच में सुन्दर चमत्कार आ गया है। यह सत्य है कि प्रत्येक नाटक में कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं जो मुख्य कथा के अनुकूल होती हैं और कुछ प्रतिकूल। हाँ, कभी कभी ऐसा होता है कि प्रतिकूल कथाएँ प्रारंभ में जटिलता उत्पन्न कर देती हैं परन्तु अन्त में वे परिस्थितियों के वश में हो कर अनुकूल हो जाती हैं और निश्चित अभीष्ट की प्राप्ति में सहायक बन जाती हैं। 'अजातशत्रु' में गौतम प्रसेनजित, और मल्लिका की

कथाएँ अनुकूल एवं देवदत्त, विरुद्धक आदि की कथाएँ प्रतिकूल हैं क्योंकि ये सभी उद्धत उघंड अजातशत्रु को पथभ्रष्ट बना देती हैं। महात्मा गौतमबुद्ध मगध-सम्राट बिम्बसार से अजातशत्रु को शासन का बागडोर दिलवा देते हैं और इस प्रकार वे भविष्य में उत्पन्न होनेवाले वात्सल्य-प्रेम और करुणा के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। 'स्त्री-सुलभ सौजन्य और समवेदना तथा कर्त्तव्य और धैर्य की शिक्षा' पायी हुई मल्लिका के क्षमा और उपदेश से अजातशत्रु और विरुद्धक के हृदय में सद्वृत्तियों का घर हो जाता है। कोशलनरेश प्रसेनजित् और कौशाम्बी नृप उदयन के सम्मिलत आक्रमण से अजातशत्रु हार जाता है और उसका गर्व चूरचूर हो जाता है, इस प्रकार उसकी अंह भावना गढ़े की ओर अग्रसर कर देती है। अन्त में मल्लिका एवं वासवी की सहायता से वह फल तक पहुँच जाता है। उदयन की कथा प्रतिकूल तो है किन्तु फिर वह अनुकूल भी हो जाती है। मागन्धी के षड्यंत्र के कारण उदयन महात्मा गौतम एवं पद्मावती से खिंच से गए परन्तु यह षड्यंत्र अधिक समय तक सफल न रहा। अस्तु अपनी असफलता के कारण वह विवश होकर श्यामा नामक 'काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी बनी। अन्त में अजातशत्रु की हार होती है और बिम्बसार क्षमा-दान करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक का विकास सहज रूप में हुआ है, उसकी गति प्रायः वेगपूर्ण है, जिसे हम पाश्चात्य नाटकों में देखते हैं और मुक्त कंठ से प्रशंसा करने लगते हैं। प्रसादजी ने इसकी ओर काफी ध्यान दिया है।

प्रसादजी के 'अजातशत्रु' में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य—पाँच सन्धियां—ठीक ठीक नहीं मालूम पड़तीं क्योंकि संपूर्ण नाटक 'विरोध-मूलक' है। परन्तु इसमें कार्य की पाँचों अवस्थाएँ आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम साफ-साफ परिलक्षित होती हैं। जैसा कि कहा जा चुका है कि अजातशत्रु एक संघर्ष-प्रधान नाटक है, उसमें सदैव ही दोनों द्वन्द्व चला करते हैं और वे दोनों द्वन्द्व हैं—आन्तरिक और वाह्य। आन्तरिक द्वन्द्व में भी विजय की उतनी ही अनिवार्यता है जितनी वाह्य में। अस्तु, इस द्वन्द्व के क्रमिक विकास के लिए आरंभ (Exposition), विकास (Growth), चरमसीमा (Climax) निर्वहण या निर्गति (Denouement) और परिणाम (Catastrophe) ही उपयुक्त हुआ है। अस्तु 'प्रस्तुत नाटक में कार्य की अवस्थाओं का विचार यदि पाश्चात्य रीति के अनुसार करें तो प्रथम अङ्क में विरोध का आरंभ और उसके विभिन्न कारणों का वर्णन है। संपूर्ण द्वितीय अङ्क में विरोध का विस्तार है। अङ्क की समाप्ति में विरोध व्यापक बनकर पूर्ण हो जाता है। सब विरोधी दल एक में मिलकर पुष्ट और उद्योगशील बन जाते हैं। विरोध की चरम-सीमा आ जाती है। इसके उपरान्त निर्गति का अभाव है। विकास के उपरान्त विरोध का क्रमिक ह्रास तथा संकोच न दिखाकर सहसा समाप्ति एवं शमन वर्णित है। तृतीय अंक में विरोध की शान्ति दिखाकर विरोध का परिहार किया गया है। यह नाटक विरोधमूलक है, इसलिए इसकी अवस्थाएं भारतीय सिद्धांत के अनुसार न होकर पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अधिक अनुकूल दिखाई पड़ती हैं। वहाँ विरोध

से आरम्भ होने के कारण विस्तार की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ फलागम लक्ष्य है। अतएव द्वितीय अंक में इसी फल की प्राप्ति का यत्न दिखाया जाता है। इस रूपक में यत्न का रूप अत्यन्त क्षीण दिखाई पड़ता है। इसमें कार्य की अवस्थाओं का विभाजन भारतीय रीति पर न कर पाश्चात्य रीति के अनुसार ही करना अधिक समीचीन होगा। यदि संपूर्ण बाह्य एवं आन्तरिक विरोधों का शमन ही मानव जीवन का परम उद्देश्य मान लें तब तो यह आवश्यक हो जायगा कि विरोध का आरम्भ, विस्तार इत्यादि वर्णित करके शान्ति में ही उसका पर्यवसान दिखावें।'

हाँ, कुछ लोगों ने 'कला कला के लिए' के सिद्धाँत पर भारतीय नियताप्ति या निगति पर दोपारोपन किया है; इसी संबंध में पं० गणेश द्विवेदी ने लिखा है कि 'संस्कृत शास्त्र के नियमानुसार नाटक में पाँच अर्थ प्रकृतियां होती हैं, उनमें पहली का नाम 'बीज' होता है। इसके उद्देश्य अर्थात फलागम की सूचना अन्योक्ति रूप से आरम्भ ही में दे दी जाती है। इसके उपरान्त इतना सभी को मालूम रहता है कि अन्त में सुखान्त ही होगा।.... इससे होता यह है कि दिलचस्पी एकदम जाती रहती है, कोई कोई संस्कृत के नाटककार फल की सूचना प्रकारान्तर से दे देने पर भी उत्सुकता बड़ी चतुरता से बनाये रखते हैं, पर उनके अनुकरण में हिन्दी वाले ऐसा नहीं कर सके'। इसी को लेकर ए० बी० कीथ (A. B. Keith) ने अपनी पुस्तक Sanskrit Drama में कहा है कि यह विभाग व्यर्थ है और इसके अलावे उन्होंने नाटक के मध्य में आकस्मिकता लाने की सलाह दी है। वास्तव में आकस्मिकता

से कथा वस्तु में एक बल आ जाता है और वह वेगपूर्ण होकर फल की ओर मुड़ती है। यही आकस्मिकता पश्चिमी देशों के नाटकों की एक मौलिक विशेषता है। इसका एक मात्र कारण यह है कि पश्चिम में नाटक का विधान मनोरंजन के लिए होता है परन्तु हमारे यहाँ आदर्श की प्रतिष्ठापना के लिए। इसीलिए भारतीय एवं पाश्चात्य नाटकों में विशेष अन्तर रह जाता है। प्रसादजी ने इस मौलिक अन्तर का अनुभव मर्म से किया और भारतीय नियताप्ति तथा यूरोपीय नियति का सुन्दर संतुलन कर दिया। उन्होंने 'अजातशत्रु' की कथा का क्रमिक संगठन इस प्रकार किया है कि उसके प्रथम दृश्य के पढ़ने या देखने से ही आगे आने वाली घटनाओं को जानने की उत्सुकता सी (Curiosita) हो जाती है। प्रसाद जी ने अपने इस नाटक में भी उत्सुकता उत्पन्न की है और उस उत्सुकता की शान्ति तीन चार दृश्यों के उपरान्त कर देते हैं। यही उत्सुकता प्रसाद के नाटकों की जान है और यही बात 'अजातशत्रु' के साथ लागू है। उदाहरण स्वरूप कुछ स्थलों को देख लेना चाहिये। प्रथम अंक के पांचवें दृश्य में मागन्धी के षड्यन्त्र से पद्मावती के प्रति विलासी उदयन के असन्तुष्ट होने की सूचना मिलती है और वह इसका बदला लेने को उद्धत होता है। अतः ऐसे स्थलों पर दर्शक या पाठक के मन में 'अब पद्मावती का क्या होगा ?' का प्रश्न गूंज उठता है, जो बिल्कुल स्वाभाविक है, जिसका समाधान जीवक इसके छठे दृश्य में ही कर देता है। इसी प्रथम अंक के सातवें दृश्य में प्रसेनजित द्वारा कोशल राजकुमार विरुद्धक को निर्वासन मिलता है और वह उसकी माता का राजमहिषि का-सा सम्मान न करने की

आज्ञा देता है। इस स्थल पर भी दर्शक या पाठक के हृदय में विरुद्धक एवं उसकी माता के स्वरूप को जानने की इच्छा होती है और नाटककार इसकी पूर्ति इसके बाद वाले दृश्य में ही कर देता है। नाटक का एक अत्यन्त सुन्दर स्थल वह है, जब वासवी अजातशत्रु को कारागार से निकाल लेती है और दूसरी ओर मल्लिका विरुद्धक को साथ लेकर कौशल की ओर जाने को तैयार होती है तो हम देखते हैं कि अब नाटक का पर्यवसान हो रहा है परन्तु ठीक ऐसे समय में एक विलक्षण घटना घटती है। मागन्धी विरुद्धक के विरुद्ध मल्लिका के सम्मुख फरियाद करती है। मल्लिका उसे अपने जोरदार शब्दों में दुतकारती है-'यदि तुम प्रेम का प्रतिदान नहीं जानते हो तो व्यर्थ एक सुकुमार नारी-हृदय को लेकर उसे पैरों से क्यों रौंदते हो ? विरुद्धक ! क्षमा मांगो; यदि हो सके तो इसे अपनाओ !' मल्लिका के कथन से हम शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर पहुँचने लगते हैं कि विरुद्धक और मागन्धी में प्रणय-सूत्र गुम्फित हो जायगा परन्तु मागंधी की यह उक्ति-'नहीं देवि ! अब मैं आपकी सेवा करूँगी, राजसुख मैं बहुत भोग चुकी हूं। अब मुझे राजकुमार विरुद्धक का सिंहासन भी अभीष्ट नहीं है, मैं तो शैलेन्द्र डाकू को चाहती थी'। हमें किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना देती है और आगे सोचने का मौका नहीं मिलता है। यहाँ पर भी हमारी उत्कंठा बनी रहती है कि विरुद्धक और अजातशत्रु का क्या होता है,इसका एकमात्र कारण यह है कि प्रसेनजित और बिम्बसार के दृढ़ व्यक्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं आया और न उन दोनों में अपने पुत्र के प्रति कोई आकर्षण पाते हैं। अंत में विरुद्धक और प्रसेनजित तथा अजातशत्रु और बिम्बसार का मिलन होता है।

एक ओर प्रसेनजित के हृदय में वात्सल्य का आह्लाद उत्पन्न होता है तो दूसरी ओर बिम्बसार की आकस्मिक मृत्यु होती है, जिसे देखकर हम चुपचाप सहम जाते हैं क्योंकि पर्यावसान में हमें उत्कंठा नहीं रह पाती है। अस्तु हम देखते हैं कि नाटककार ने फल प्राप्ति को जानने के लिए अंत तक हमें उत्सुक बनाये रक्खा। Lope de vega ने ठीक ही लिखा है—

'Keep your secret to the end. The audience will turn their faces to the door and their back to the stage when there is no more to learn.

अर्थात सम्पूर्ण रहस्य को अन्त तक छिपाये रक्खो। जब कुछ नहीं जानने को बच जायगा तब दर्शक अपना मुख द्वार की ओर मोड़ लेंगे और मंच की ओर पीठ कर देंगे।

हाँ, हमने ऊपर साहित्य-दर्पण के अनुसार नाटक का लक्षण बतला दिया और अब हम उन लक्षणों के अनुसार 'अजातशत्रु' को कसते हैं। अजातशत्रु की कथावस्तु ऐतिहासिक है। इसकी सन्धियां स्पष्ट नहीं। इसमें तीन राज परिवारों की कथा है और वे हैं—मगध, कौशल और कौशाम्बी। उदयन और मागन्धी की कथा में विलास का प्रचुर साधन हैं। इन राज-परिवारों में ऐश्वर्य यथेष्ट हैं। इसके पात्रों के जीवन सुख-दुःख के ताने बानों से बुना गया और कभी वे चढ़ाव की ओर जाते हैं और कभी उतार की ओर। 'अजातशत्रु' में वीर रस की प्रधानता है, परन्तु अन्त में शान्त और शृङ्गार भी। इसमें पाँच अङ्कों की जगह तीन ही अङ्क हैं, जो अंग्रेजी नाटकों

के ही अनुकूल है। इसके अङ्कों के दृश्य का क्रम इस प्रकार है— नौ-दस-नौ। नायक यद्यपि प्रख्यात वंश में उत्पन्न हुआ है फिर भी उसमें कुछ गुणों का अभाव है। नाटक की समाप्ति के अवसर पर महात्मा गौतम 'अभय हाथ उठाते हैं', तो वहां पर निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस की निष्पत्ति समझना चाहिये। कार्य-सिद्धि के लिये प्रधानतः चार-पाँच पात्र हैं, पर 'कार्य' क्या है इसका कहना दुर्वार है। अङ्क—गोपुच्छवत उत्तरोत्तर छोटे होते नहीं गए है, क्योंकि दूसरा अङ्क पहले अङ्क से बड़ा है। हां, अगर "गो पुच्छवत" शब्द का यह अर्थ लिया जाय कि मुख्य कथा के पर्यवसान के पूर्व गौण कथाओं का अन्त हो जाय तो इस दृष्टि से यह रचना 'गो पुच्छवत्' है।

अजातशत्रु के प्रारंभ में न तो नान्दी-पाठ है और न भरत-वाक्य। रंगमंच पर कुछ निषिद्ध दृश्य (वर्जित दृश्य) का प्रदर्शन भी हुआ है। इसमें मागन्धी द्वारा सम्पादित अग्निकांड, श्यामा का शयन, विरुद्धक द्वारा श्यामा की हत्या का प्रयत्न और भोजन का भी दृश्य है। शेक्सपियर आदि नाटककारों ने संकलन-त्रय (Unity of action Place and time) को यथासाध्य माना है जिसके अनुसार घटना एक ही स्थान की होनी चाहिये। प्रसादजी के 'अजातशत्रु' में संकलन-त्रय का निर्वाह नहीं किया गया है क्योंकि कुछ घटनाएँ कौशाम्बी में घटती है, कुछ मगध में और कुछ कौशल में। इस प्रकारस्थान-संकलन (Unity of place) की अवहेलना की गई है।

'अजातशत्रु' पर पारसी नाटकों का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव

है, उदाहरण स्वरूप सानुप्रास गद्य एवं शेर हैं। [इस संबंध में भाषा शैली वाला निबन्ध है]

अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अजातशत्रु की रचनाशैली न तो पूर्णरूप से संस्कृत नाटकों के अनुकूल है और न अंग्रेजी नाटकों के अनुरूप। बल्कि इसमें कई पद्धतियों का संतुलित सम्मिश्रण है। अतः इसके वस्तु विन्यास में नाटककार ने एक नवीन विधान (टेकनीक) का आश्रय लिया जो उनकी मौलिक प्रतिभा का द्योतक है।

वस्तु-विन्यास के अनन्तर हम पात्रों की ओर आते हैं। नाटक के पात्रों में नायक प्रधान पात्र होता है। धनञ्जय ने नायक को सब उच्च और उदार गुणों से उच्च माना है। उसके अनुसार नायक को—विनयशील, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, शुचि, रक्तलोक, वाग्मी, रूढ़वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान्, स्मृति-संपन्न, उत्साही, कलावान्, शास्त्रचक्षु, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ़ तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिये। × अरस्तु ने नायक के संबंध में कहा है कि वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो अत्यन्त नामांकित तथा समृद्धिशाली हो। ❀ परन्तु योरोपीय नाटककार नायक

× नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साह स्मृति प्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

❀ He must be one who is highly renowned and prosperous. Poetics, Page 47

में दुर्बलता अवश्य दिखलाता हैं क्योंकि ऐसे पात्र का भाव दर्शक पर बहुत पड़ता है और इस दुर्बलता को दिखलाने में द्वन्द्व का आश्रय ग्रहण करते हैं। इस प्रकार के द्वन्द्व दरसाने से नाटक की गति में वेग आ जाता है परन्तु भारतीय नाटककार प्रधान पात्र में इस प्रकार की दुर्बलता दिखलाने में झिझक करता है क्योंकि वह वस्तु-विकास में इसे एक रोड़ा मानता है। यही कारण है कि भारतीय नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व को प्रधानता नहीं देते। + प्रसादजी ने पाश्चात्य के अन्तर्द्वन्द्व को अपने नाटकों में आत्मसात कर लिया, इसके साथ-साथ उन्होंने भारतीय आदर्शवादिता की भी रक्षा की। प्रसादजी ने जीवन के लिए संघर्ष को अनिवार्य माना है, जो मानव का एक विशेष गुण है, इसीलिए उन्होंने भारत की आदर्शवादिता और यूरोप की यथार्थता का सुन्दर संतुलित समन्वय कर 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की स्थापना की।

यह चरम सत्य है कि पात्रों के चरित्र-विकास में अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता अनिवार्य है। जिस पात्र में जितना अधिक अन्तर्द्वन्द्व होगा उस पात्र का चित्रण उतना ही सफल माना जायगा। हम कह ही चुके हैं कि प्रसाद जी राय से भी बहुत प्रभावित रहे हैं और उनके कुछ सिद्धान्तों को अपने में आत्मसात किया। द्विजेन्द्रलाल राय ने एक स्थल पर कहा है—'जिस नाटक में अन्त द्वन्द्व दिखाया जाता है, वही नाटक उच्च श्रेणी

+ To Brahmin ideal individuality has no appeal; the law of life has no room for deviation from type.

—Sanskrit Drama.

का होता है, जैसे हैमलेट और किङ्ग लियर। वहि र्घटनाओं के साथ युद्ध दिखलाना अपेक्षाकृत निम्नश्रेणी के नाटक की सामग्री है। यह भीतरी युद्ध सभी महानाटकों में हैं। कोई भी कवि प्रवृत्ति या प्रवृत्ति के संधान में लहर उठा सके बिना, विपरीत वायु के संघात से प्रचण्ड बवंडर उठा सके बिना, चमत्कार पूर्ण नाटक सृष्टि नहीं कर सकता।

'अन्तर्विरोध के विना उच्च श्रेणी का नाटक बन ही नहीं सकता। बाहर के युद्ध से नाटक का विशेष उत्कर्ष नहीं होता। उसे तो ऐरे-गैरे सभी नाटककार दिखा सकते हैं। जिस नाटक में केवल उसी का वर्णन होता है वह नाटक नहीं इतिहास है। ....जो नाटक प्रवृत्तियों का युद्ध दिखलाता है वही उच्च श्रेणी का नाटक होता है।

'जो नाट्यकार मनुष्य के अन्त जगत को खोलकर दिखा सकता है, वही यथार्थ में सच्चा दर्शनिक कवि है। बल और दुर्बलता के जिज्ञासा और करुण के, ज्ञान और विज्ञान के, गर्व और नम्रता के क्रोध और संयम के, पाप और पुण्य के समावेश में ही यथार्थ उच्च श्रेणी का नाटक होता है! इसी को मैं अन्तर्विरोध कहता हूँ।'—(कालिदास और भवभूति)

नाटक में नायक आन्तरिक एवं बाह्य द्वन्द्व दोनों का सामना करता है और अन्त में वह दोनों में विजय प्राप्त कर लेता है। अजातशत्रु के चरित्र विकास में अन्त द्वन्द्व नहीं है परन्तु वह अपने जीवन के आरंभ से ही बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित है जिसके हेतु उसका चरित्र गरल-सा हो गया है।

अजातशत्रु के चरित्र का विकास अवश्य ही स्वाभाविक रूप में हुआ है परन्तु उसके चरित्र की प्रारंभिक दुर्बलता (क्रूरता) को बाह्य परिस्थितियों ने बदल दिया। वह बाह्य द्वन्द्व में भी मगध का सम्राट बनता है और कोशल-सम्राट प्रसेनजित की पुत्री बाजिरा से विवाह कर मैत्री स्थापित करता है। यही बात मागन्धी, देवदत्त आदि के संबंध में लागू है। इसमें अजातशत्रु विरुद्धक, गौतम और मल्लिका का चरित्रपूर्ण रूप से विकसित है! हाँ, इसमें कुछ ऐसे पात्रों की सृष्टि हुई है जिनका चरित्र पूर्ण रूप से विकसित हुआ है। 'अजातशत्रु' में जीवक 'नियति की डोरी पकड़ कर कर्मकूप में कूदना चाहता है' परन्तु नाटक में उसका कोई खास काम नहीं मालूम पड़ता। मागन्धी के महल से निकल भागने का कोई पर्याप्त कारण नहीं दिख पड़ता है। देवदत्त का पतन भी सुन्दर ढंग से नहीं दिखलाया गया है।

अजातशत्रु और विरुद्धक के चरित्र में साम्य है। इस चरित्र साम्य को अंगरेजी में Parallelism in Characterisation कहते हैं। यह सिर्फ 'अजातशत्रु' ही की विशेषता नहीं है बल्कि संस्कृत एवं अंग्रेजी के शेक्सपियर आदि के नाटकों में भी समान रूप से विद्यमान है। हाँ, यह तो ठीक है कि दोनों के चरित्र में विशेष साम्य है परन्तु उनकी परिस्थितियाँ विभिन्न हैं। दोनों महत्वाकांक्षी हैं, परन्तु अजातशत्रु की महत्वाकांक्षा फलीभूत होती है परन्तु विरुद्धक को निर्वासन मिलता है। शासन के बागडोर को हाथ में लेते ही अजात निरंकुश और क्रूर हो जाता है और विरुद्धक साहसी शैलेन्द्र। अजातशत्रु दर्शक की दृष्टि में एक बुरा पात्र

लगता है, परन्तु विरुद्धक नहीं, क्योंकि उसने स्वावलंबन आत्म-निर्भरता और आत्मविश्वास को अपना साधन चुना, जिसके कारण उसे सहानुभूति हस्तगत होती है। इस प्रकार प्रसादजी ने पात्रों के चरित्र की अवतारणा में विविधत्व उत्पन्न कर विरोध एवं द्वन्द्व को दिखलाया है, जिसके कारण नाटक में नाटकीयता आ गई है।

कथनोपकथन भी नाटक का एक अपरिहार्य अंग है। नाटक में कथा और चरित्र को स्पष्ट करने के लिए कथनोपकथन का आश्रय लिया जाता है। अजातशत्रु के पात्र दार्शनिक हैं इसलिये इसमें काव्यात्मक शैली के कथनोपकथन आ पड़े हैं। इस नाटक में कहीं-कहीं कथनोपकथन आवश्यकता से अधिक लम्बे हैं। यों तो कहीं-कहीं अत्यन्त छोटे-छोटे सरल वाक्य हैं जो बड़े वेगपूर्ण और प्रभावशाली हैं। ऐसे कथनोपकथन नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने की बड़ी क्षमता रखते हैं जिसके कारण नाटक में कहीं-कहीं चमक आ गई है। अन्य नाटकों की तरह इसमें स्वगत-कथन भी बड़े-बड़े लम्बे हो गये हैं और दर्शक जिसे मंच पर सुनना कतई पसन्द नहीं करता।

नाटक में कथनोपकथन के विद्यमान होने का प्रधानतया दो मुख्य प्रयोजन है—कथानक को अग्रसर करना और पात्रों के चरित्र एवं घटनाओं पर पूर्ण रूप से प्रकाश डालना। उदाहरण स्वरूप—कुछ घटनाओं की सूचना कथनोपकथन के द्वारा दी जाती है—

'भिक्षु-आश्चर्य ! वह मृत स्त्री जी उठी और इतनी ही देर में दुष्टों ने कितना आतंक फैला दिया था। समग्र विहार मनुष्यों से भर गया था। दुष्ट जनता को उभाड़ने के लिये कह रहे थे कि पाखंडी गौतम ने ही उसे मार डाला। इस हत्या में गौतम की कोई बुरी इच्छा थी। किन्तु उसके स्वस्थ होते ही सबके मुख में कालिख लग गई। और अब तो लोग कहते हैं कि 'धन्य हैं; गौतम बड़े महात्मा हैं उन्होंने मरी हुई स्त्री को जिला दिया।'

—अंक २ दृश्य ८।

कथनोपकथन के द्वारा पात्रों का चरित्र-चित्रण भी होता है क्योंकि वाणी ही मनुष्य-चरित्र का द्योतक है। कथनोपकथन के द्वारा चरित्र-चित्रण करने का दो ढंग है—

१ जो पात्र कथनोपकथन में भाग लेते हैं उन्हीं का चरित्र स्पष्ट होता है।

२ दो पात्रों के बीच कथनोपकथन करा कर किसी अन्य पात्र का चरित्र-चित्रण करना।

निम्नांकित कथनोपकथन से छलना और वासवी का चरित्र-स्पष्ट हो उठता है।

छलना—यह सब जिन्हें खाने को नहीं मिलता उन्हें चाहिये। जो प्रभु हैं, जिन्हें पर्याप्त हैं उन्हें किसी की क्या चिन्ता जो व्यर्थ अपनी आत्मा दबायें।

वासवी—क्या तुम मेरा भी अपमान किया चाहती हो? पद्मा तो जैसी मेरी, वैसी ही तुम्हारी, उसे कहने का तुम्हें अधिकार

है, किंतु तुम तो मुझसे छोटी हो, शील और विनय का यह दुष्ट उदाहरण सिखा कर बच्चों की क्यों हानि कर रही हो?

छलना—(स्वगत)—मैं छोटी हूँ यह अभिमान तुम्हारा अभी गया नहीं है। (प्रकट)—मैं छोटी हूँ या बड़ी, किन्तु राजमाता हूँ। अजात को शिक्षा देने का मुझे अधिकार है। उसे राजा होना है। वह भीखमंगों का—जो अकर्मण्य होकर, राज्य छोड़कर दरिद्र हो गये हैं—उपदेश नहीं ग्रहण कर पावेगा।

—अंक १ दृश्य १।

नीचे शक्तिमती और कारायण का कथनोपकथन दिया जाता है जिससे विरुद्धक की चारित्रिक विशेषतायें परिलक्षित होती हैं—

रानी—विरुद्धक ने तुम से भेंट की थी?

कारायण—कुमार बड़े साहसी हैं—मुझसे कहने लगे कि 'अभी मैंने एक हत्या की है और उससे मुझे यह धन मिला है; सो तुम्हें गुप्त सेना—संगठन के लिये देता हूँ। मैं फिर उद्योग में जाता हूँ। यदि तुमने धोखा दिया तो स्मरण रखना-शैलेन्द्र किसी पर दया करना नहीं जानता।' उस समय मैं तो केवल बात ही सुनकर स्तब्ध रह गया। बस स्वीकार करते ही बना रानी! उस युवक को देखकर मेरी आत्मा काँपती है।

इस नाटक में प्रसाद जी ने स्वगतोक्ति से आत्म-चित्रण

एवं दूसरों का भी चित्रण किया हैं। अजातशत्रु में भी दृश्य के यथार्थ चित्रण के लिए कथनोपकथन का उपयोग किया हैं, जैसे—

'यह देखो, पवन मानो किसी डर से धीरे - धीरे साँस ले रहा है। किसी आतंक में तारों का झुंड नीरव-सा है, जैसे कोई भयानक बात देखकर भी वे बोल नहीं सकते हैं, केवल आपस में इंगित कर रहे हैं।'

—अङ्क २ दृश्य २।

प्रसाद जी के कुछ नाटकों में कथनोपकथन का यह दोष है कि पात्र गद्य में बात करते करते पद्य में बोलने लगता है। इस दोष का कारण स्पष्ट है कि प्रसाद जी पर पारसी नाटकों का प्रभाव है। 'अजातशत्रु' में भी इस प्रकार गद्य के बीच में आने वाली शैरबाजी का अभाव नहीं है। इस संबंध में हमने 'भाषा शैली' की चर्चा करते समय कह दिया है।

प्रसादजी ने अपने 'अजातशत्रु' नाटक में देशकाल की अनुरूपता का ध्यान हमेशा रक्खा है। इसमें उन्होंने तत्कालीन युग की समस्त सामाजिक, राजनैतिक, पारिवारिक और धार्मिक लीलाओं की परम्परा-संबंधी चित्तवृत्ति का सुन्दर एवं सजीव चित्र खींचा है। यही कारण है कि जब हम कुछ समय के लिए इसको पढ़ते हैं तो एक अवधि के लिए अपनी परिस्थिति को भूल जाते हैं और हमें लगता है कि हम उन्हीं युगों और उन्हीं स्थानों में घूम रहे हैं जिनका चित्रण नाटककार ने इसमें किया है। वस्तुतः वे नाटक के युग से

पूर्णतः तटस्थ रहे इसीलिए उन युगों की रीति-नीति, चाल-ढाल आदि का सुन्दर चित्र आँक सके हैं। 'अजातशत्रु' नाटक बौद्ध-युग की वस्तु है और उस समय की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक अवस्था का सम्पूर्ण चित्र खिच आता है। समाज एवं राज्यों पर बौद्धधर्म का शासन था। यों तो वुद्धदेव की प्रतिद्वन्द्विता ने एक धार्मिक संघर्ष उत्पन्न कर दिया था परन्तु फिर भी राजकीय कुल से लेकर रंक की झोपड़ी तक इसका महत्व था।

'अजातशत्रु' में गृह कलह को दूर कर विश्व-मैत्री की स्थापना करने का सन्देश निहित है।

भाषा-शैली, गीत, अभिनय के संबंध में हमने पूर्ण रूप से प्रकाश डाल दिया है, जिसके संबंध में लिखना व्यर्थ है। हाँ, अब एक तत्त्व है—'रस'।

भारतीय आचार्यों के अनुसार नाटक में वीर या शृंगार रस प्रधान तत्त्व माना गया है और निर्वहण में अद्भुत रस। अन्य तत्त्वों की सार्थकता इसी में है कि रस के परिपाक में पूर्ण रूप से सहायक हों। उन्होंने इस नाटक में किस रस की योजना की है, इसके संबध में ठीक-ठीक विचार प्रस्तुत करने के लिए पौर्वात्य सुखान्तता और पाश्चात्य दुखान्तता को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये, क्योंकि इन्हीं दोनों का समन्वय उनके प्रत्येक नाटक में हुआ है। हम उनके किसी भी नाटक को पढ़ कर देखेंगे तो यह पायेंगे कि उनके नाटक का अंत सुखमय हुआ अवश्य है पर उनसे हमारे मन में कोई आनन्द, सुख एवं शान्ति का स्रोत नहीं फूटता बल्कि हमारे ऊपर नाटक के आदि से अंत तक विषाद की गहरी

छाया पड़ जाती है, जो चैन की बाँसुरी नहीं बजाने को मजबूर करती है। इस सम्बन्ध में प्रो० रामकृष्ण शिलीमुख ने ठीक ही लिखा है कि 'प्रसाद की सुखान्त भावना प्रायः वैराग्यपूर्ण शान्ति होती है। इसका कारण है उनके जीवन की वही करुण जिज्ञासा जो उनके प्राणों को सदैव विलोड़ित करती रहती थी—बौद्ध इतिहास और दर्शन के मनन ने उसे और तीखा कर दिया था। उनके नाटकों में बौद्ध और आर्य दर्शन का संघर्ष और समन्वय वास्तव में दुःखवाद और आनन्दमार्ग का ही संघर्ष और समन्वय है जो उनके अपने अन्तर की सबसे बड़ी समस्या थी। इसी समन्वय के प्रभाववश उनके नाटक न पूर्णतः सुखान्त हैं और न दुखान्त, उनमें सुख-दुख जैसे एक दूसरे को छोड़ना नहीं चाहते, कवि आग्रह पूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है, परन्तु तुरन्त ही दुख भी अपनी झलक दिखा ही जाता'। प्रसादजी के 'अजातशत्रु' के नाटकीय पात्रों में भी इसी भावना को वर्त्तमान पाते हैं। रस-विचार के संबंध में लिखते हुए डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा कहते हैं कि—'इस नाटक में जैसे कार्य की अवस्थायें और अन्य अवयव दोष-पूर्ण हैं उसी प्रकार समष्टि-प्रभाव और रस की निष्पत्ति भी शुद्ध नहीं हैं'। यह चरम सत्य है कि इसमें वस्तु-संगठन सुन्दर न होकर जटिल हो गया है, जिसके कारण नाटकीयतत्व भी ढीले पड़ गए हैं। नाटक का नायक अजातशत्रु है जिसका उद्देश्य है—राज्य-प्राप्ति। 'वह राज्य-प्राप्ति तब तक निरापद नहीं समझी जा सकती जब तक शुद्ध अन्तःकरण से बिम्बसार आशीर्वाद नहीं देता। अतएव अजातशत्रु की फल प्राप्ति का विरोधी बिम्बसार है, भले ही वह विरक्त होकर उसे

राज्याधिकार सौंप चुका है। अजात उस फल को प्राप्त करने का उद्योग बड़े उत्साह के साथ करता है। नाटक का अधिकांश इसी उत्साह के प्रसार में लग गया है और सामाजिक उस उत्साह का रसास्वादन करते हैं। अतएव वीर रस की प्रधानता दिखाई पड़ती है।'

इस विरोध, संघर्ष और युद्ध-प्रधान नाटक का आश्रय अजातशत्रु है और इसके प्रत्येक कार्य में उत्साह है। वह जितना भी कार्य व्यक्त करता है सब उत्साह-पूर्ण है। अतः इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि इसमें वीर रस है, जिसका स्थायी भाव उत्साह है, जो नाटक में पग-पग पर देखने को मिलता है। अजातशत्रु के प्रत्येक कार्य में उत्साह की धारा है। उस उत्साह का मूल कारण है बिम्बसार, जो आलंबन है। इसमें काशी का उपद्रव उद्दीपन बन कर आया है और अनुभाव के अन्तर्गत—युद्ध-संबंधी तैयारियां, परिषद् का प्रधान देवदत्त का बनना, वासवी और बिम्बसार पर कड़वी नजर का रहना आदि है। इसके संचारी भाव हैं—गर्व, उद्वेग इत्यादि। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण नाटक में वीर रस की प्रधानता है जो द्वितीय अंक के अवसान-काल तक व्याप्त रहता है। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दों में कह सकते हैं कि—जो विस्तार तृतीय अंक में है उसके कारण द्वितीय अंक तक का समष्टि-प्रभाव दूर पड़ जाता है और सारी दौड़ निरर्थक-सी ज्ञात होने लगती है। यहाँ वीर-रस की निष्पत्ति में विरोध आ जाता है। अंतस्थल में वीर रस की समष्टि का कोई प्रभाव रह नहीं जाता। अतः जैसी रस-निष्पत्ति होनी चाहिए वैसी नहीं हो सकी है'।

'तृतीय अंक में शान्त रस की प्रधानता दिखाई पड़ती है जिसका सम्बन्ध बिम्बसार के जीवन से है। निर्वेद स्थायी का धारणकर्त्ता—आश्रय बिम्बसार ही हो सकता है, अजातशत्रु, जो सांसारिक कुचक्रों और हीनता का प्रतिनिधि है, इस निर्वेद का आलंबन है; विरुद्धक और प्रसेनजित् का प्रसंग और छलना की कटूक्तियाँ उद्दीपन का काम करती हैं, बिम्बसार के विरक्ति-सूचक संवाद अनुभाव हैं; दुःख, कुतूहल, निर्वेद इत्यादि संचारी हैं। इस प्रकार शान्त रस के सब अवयवों के रहते हुए भी उसकी निष्पत्ति नहीं मानी जा सकती; क्योंकि प्रथम तो बिम्बसार सब को क्षमा करते हुए रागी दिखाई देता है। इस प्रकार संतोषजनक प्रसन्नता से विरक्ति और निर्वेद का भाव ही समाप्त हो जाता है, दूसरे वह नायक नहीं है अतएव सामाजिकों का वह आलंबन नहीं हो सकता। तीसरे भारतीय नाट्यशास्त्र नाटकों में आठ ही रस मानता है। शान्त को नाट्यरस माना ही नहीं गया; क्योंकि उसका साधारणीकरण संभव नहीं सिद्ध होता। उक्त तर्कों के के आधार पर यह निर्विवाद स्वीकार करना पड़ेगा कि रस के विचार से यह रचना सफल नहीं कही जा सकती। रचना के अन्य अवयवों की भांति यह अवयव भी अस्फुट हीं रह गया है,। ❀

हां, हम तो यह देख चुके कि इसमें शृंगार, वीर, करुणा शान्त सभी हैं और नाटककार ने किसी को विशेष रूप से दृष्टि में रख कर लिखा भी नहीं है। इसमें रसों का समन्वय आप से आप

❀ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० ज० प्र० शर्मा

होता गया है, जिसके कारण किसी विशेष रस का नाम लेना संभव नहीं है। नाटक की समाप्ति उस समय होती है जब वह स्वयं लड़खड़ा कर गिरता है जो उसकी मृत्यु की सूचना देती है। उसकी मृत्यु सहज रूप से हुई है और बात यह है कि वह स्वयं मरना नहीं चाहता था और न नाटककार का यह उद्देश्य था कि अजातशत्रु द्वारा बिम्बसार की हत्या दिखलाई जाय। बिम्बसार की मृत्यु से यह दुखान्त नाटक की श्रेणी में बद्ध नहीं हो सकता क्योंकि हम पर उसकी मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है बल्कि सुख और संतोष ध्वनित होता है। अजातशत्रु अपनी पुत्रोत्पत्ति के उपरान्त पितृ-स्नेह का अनुभव करता है और अपने क्रूर कर्मों पर पश्चाताप करता है तथा इसके लिए पिता से क्षमा की भीख माँगता है। इससे बिम्बसार का हृदय आनन्द से गद्‌गद् हो उठता है और इस आनन्द का भार वहन करने में असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार निष्क्रिय नायक (Passive Hero) की सभी अभिलाषाएँ आप से आप पूर्ण हो जाती हैं'। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर बिम्बसार लड़खड़ा कर मृत्यु के आँचल में शरण लेता है वहाँ दूसरी ओर अजातशत्रु अपनी मनोकामनाएँ पूर्ण करता है। अस्तु, इस प्रकार हम देखते हैं कि सुखमय आत्मा के साथ दुःखमय आत्मा का संतुलित समन्वय है, जिससे प्रसादजी का एक अपना रस बनता है और वह है—'प्रसादान्त'। सुतरां हम एक शब्द में कह सकते हैं कि प्रसादजी का अजातशत्रु प्रसादान्त है। और कुछ नहीं।

जो कुछ भी हो, इस नाटक का हिन्दी नाटकों के मध्य में अपना विशिष्ट स्थान है और यहीं से टेकनीक का नवीन रूप ग्रहण किया जाने लगा है। बस !!

परिशिष्ट

[गद्य-भाग]

पहला अंक

पहला दृश्य

(१) बच्चों का हृदय कोमल थाल.........चाहे फूलों के पौधे ।

प्रस्तुत उक्ति पद्मावती के मुख से निकली है और उसने इस उक्ति को अपनी राजमाता छलना के सम्मुख कहा है। पद्मावती और अजातशत्रु में एक मृगशावक के न लाने पर बात बढ़ गयी और उस वार्तालाप ने एक ऐसा विकराल रूप धारण कर लिया कि गृह-अग्नि का अंकुर स्वयं उद्भूत हो गया। पद्मावती यह चाहती थी कि अजातशत्रु चाटुकारों की चाल में न फँसे और क्रूर कर्म न करे। इसीलिये उसने लुब्धक को मृगशावक लाने से रोका, न कि अजातशत्रु को अपमानित करने के लिये। पद्मावती अपने भाई को यह सीख देती है कि मानवी सृष्टि करुणा के लिये हैं और क्रूर कर्मों को न्यस्त करने के लिए संसार में पशु हैं। पर राजमाता छलना इस प्रकार की शिक्षा अपने पुत्र अजातशत्रु को नहीं देना चाहती है क्योंकि यह सीख भिक्षुओं की भद्दी सीख है। छलना अपने तर्क के सामने पद्मावती की बातों पर कुछ ध्यान नहीं देती, पर माता को समझाने के लिए वह एक दृष्टान्त उपस्थित करती है। उसके अनुसार बच्चों का हृदय मुलायम खेत (थाल) है और बच्चों की यही अवस्था है कि उनमें जिस प्रकार की भावनाओं का अंकुर जमाया जायगा उसी प्रकार का फल उत्पन्न

होगा। इस कोमल हृदय में जिस प्रकार की प्रवृति अपना घर कर लेगी उसी प्रकार वह मुड़ेगी भी। वह माँ को एक चेतावनी के रूप में कहती है कि वह मेरे भाई कुणीक के हृदय में जिस प्रकार की भावनाओं की सीख देगी उसका फल वैसा ही होगा। उसे इसकी क्या चिन्ता लगी है कि वह किस तरह अजातशत्रु को शिक्षा देती है। यह छलना की मर्जी पर निर्भर करता है।

(२) *मनुष्य होना राजा होने से अच्छा है।*

यह उक्ति पद्मावती की है। वह अपनी मां छलना से कहती है कि वह तो अजातशत्रु को राजा बनाना चाहती है अवश्य, परन्तु क्रूर और कठोर हाथों से राज्य करने की शिक्षा देती है यह भूल है। राजा का गुण यह नहीं है कि वह अत्याचार करे, अनाचार करे। जो राजा ऐसा करता है, वह उस पद पर बैठने के योग्य नहीं है। अगर राजा का यह गुण है कि वह क्रूर हो, हिंसक हो, कठोर हो तो उससे अच्छा एक मनुष्य होना है क्योंकि मनुष्य का जन्म इस संसार में इसलिये हुआ है कि वह दया करे, करुणा प्रदर्शित करे। मानव के जीवन की यही विशेषता है और यह मानव संसार करुणा और स्नेह के लिए है। अतः राजा वही है जो करुणा करता है, दया प्रदर्शित करता है, जिसके हृदय में ममता की मन्दाकिनी है, नहीं तो वह राजा नहीं। उससे अच्छा है-एक साधारण मनुष्य, जिसका आभूषण है-करुणा और स्नेह।

(३) *यह असत्य गर्व मानव-समाज का बड़ा भारी शत्रु है।*

यह वासवी का कथन है। उसकी यह उक्ति चरम सत्य है।

यह पंक्ति छलना की ओर संकेत करती है। वासवी करुणा की मूर्ति है, गौतम के उपदेशों से प्रभावित है और वह यह नहीं चाहती है कि गृह-विद्रोह की आग बच्चों के कारण जले, परन्तु महत्वाकांक्षी छलना उग्र प्रकृति की है और उसका मस्तिष्क सर्वदा अहं भावना से प्रेरित होता रहता है क्योंकि वह अपने आप को राजमाता समझे बैठी है। छलना में गर्व के कारण शील और विनय है ही नहीं, जिसका बुरा प्रभाव उसके बच्चों पर पड़ता है। छलना को कभी कभी छोटी होने की बात अखर उठती है परन्तु फिर भी वह समझती है कि अजातशत्रु को शिक्षा देने का उसे ही अधिकार हस्तगत हैं; क्योंकि उसे राजा होना है। छलना करुणा और स्नेह को भिखमंगों का उपदेश समझती है इसीलिए वह उसे क्रूरता का पाठ पढ़ाती है। छलना को वासवी भविष्यवाणी के रूप में संकेत करती है कि राजमाता होने का गर्व एक न एक दिन अवश्य अंधकार के गर्त में ला ढकेलेगी। वस्तुतः संसार में जो झूठमूठ का गर्व रहा करता है, वह मनुष्य को पतन की ओर उन्मुख करता है और असत्य गर्व उन्नति के पथ का बाधक प्रमाणित होता है।

दूसरा दृश्य

(४) *जीवन की क्षण भंगुरता.........नींव देना चाहता है।*

प्रस्तुत संदर्भ बिम्बसार का स्वगत-भाषण है। बिम्बसार एकाकी बैठे हुए आप ही आप कुछ विचार करते हुए प्रकृति के क्रिया-कलाप के सहारे संसार का एक कटु सत्य उपस्थित कर देते हैं। उनका कहना है कि मानव समाज इस सत्य से पूर्णतया

परिचित है कि संसार की प्रत्येक वस्तु क्षण भंगुर है, नाशवान है, और है मायावी, फिर भी वह अपनी जड़ को मजबूत बनाये रखना चाहता है। मानव को यह तत्व ज्ञात है कि यह शरीर एक मिट्टी का घिरौंदा है, जो आप से आप ढह कर चकनाचूर हो जायगा फिर भी वह इस मिट्टी के घिरौंदे को मजबूत रखने के लिये एक गहरी भीत देना चाहता है, एक सुडौल दीवार तैयार करना चाहता है। परन्तु मानव सब कुछ जानते हुए भी अपना कार्य न्यस्त करता है और इस क्षणभंगुर संसार में अपनी नीव शक्तिशाली बनाये रखने के लिए जी-जान से परिश्रम करता है, परन्तु उसके साथ वही बात होती है जो होने को रहती है ! उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता, वह अपने वंश की वस्तु नहीं रह जाती है, बल्कि एक परोक्ष-सत्ता द्वारा नियंत्रित है और उसीके अनुसार फल होता है।

(५) आकाश के नीले पत्र पर··············· प्रयत्न करती है।

विस्वसार जीवन से ऊब चुका है। उसे जीवन में अनेक तरह की विषमताएँ मिली हैं। वह मानव-जीवन एवं सृष्टि की क्षणभंगुरता का अनुभव करती है। निराश मनुष्य ही जीवन की क्षणभंगुरता को भली-भाँति समझता है।

रात्रि में आकाश स्वच्छ और नीला रहता है। उस समय आकाश असंख्य ताराओं से परिपूर्ण रह कर चकमक-चकमक कर अपना सौन्दर्य दिखाता है और मानव उसके इस अपूर्व वैभव को देखता भी है। इसे वह प्रकृति के कुछ लिखे हुए लेख के रूप में मानता है। यह अदृष्ट का लेख मानव-मात्र को एक सीख देता

है, परन्तु मनुष्य उसे समझने में असमर्थ है। जब ये तारे धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं तो प्रभात का आगमन होता है। प्रभात के समय ही लोग अपने-अपने कर्मों में लग जाते है। इस प्रकार नाटककार यह संकेत करता है कि जहाँ प्रकृति का रूप स्थिर नहीं है वहाँ सांसारिक वैभव का भी स्वरूप एक-सा नहीं रहता है और नष्ट हो जाता है; लेकिन मनुष्य प्रकृति द्वारा निर्दिष्ट संकेत को समझ नहीं पाता है और न समझने की चेष्टा करता है। यह तो सत्य है हीं कि सूर्य की किरणों के फैल जाने के उपरान्त मानव-प्राणी एक नवीन चेतना एवं जागरण के साथ सांसारिक कार्यों को सम्पन्न करने में लीन हो जाता है और इस प्रकार कार्यों को न्यस्त करअपनी शक्ति बढ़ाने को प्रयत्नशील रहता है। बिम्बसार के जीवन में अकांड-ताण्डव हुआ है। वह अपनी छोटी रानी छलना और अपने पुत्र अजातशत्रु के व्यवहार से असन्तुष्ट और दुःखी है। इसीलिए उसका संकेत केवल अकांड-ताण्डव की ओर गया है। प्रभात होने पर ही सुकार्य भी आरंभ किए जाते हैं पर व्यथित हृदय को इसकी याद कैसे आती।

मनुष्य गलती पर गलती करता है और प्रकृति अवसर पर अवसर देती है। फिर प्रकृति दिन का अन्त करती है। रात्रि का आगमन घोर निस्तब्धता के साथ होता है। प्रकृति सभी को अंधकार की गुफा में लाकर शान्ति देना चाहती है। और उसके अन्त को अन्धकारमय ही बतलाती हैं। प्रकृति अपने इस क्रिया-कलाप के द्वारा यह बतलाना चाहती है कि इस मानव जीवन के

अन्तर्गत भी न जाने कितने रहस्य छिपे पड़े हैं, जिन्हें मानव समझने में बिलकुल असमर्थ है।

(६) *मनुष्य व्यर्थ महत्व…………गिरे तो भी क्या?*

प्रस्तुत अवतरण में बिम्बसार ने नियति का एक सत्य उपस्थित किया है। मनुष्य प्रकृति के क्रिया-किलापों को देखता है, परन्तु दूसरे ही क्षण वह विस्मृति के गर्भ में जा कर सब कुछ भूल जाता है। मनुष्य के जीवन में शान्ति नहीं है क्योंकि उसके हृदय में आकांक्षाओं का ज्वार है। वह आकांक्षाओं को ज्वार के रूप में ही देखना चाहता है, न कि भाटा (पतन) के रूप में। वह उन्हीं की पूर्ति में संलग्न रहता है। वह जीवन में उत्थान चाहता है, कभी पीछे की ओर उन्मुख नहीं होना चाहता है। इसीलिए वह अपनी साधारण सुदृढ़ स्थिति पर संतोष नहीं करता। मानव-मात्र का यह सहज स्वभाव है कि उसे कितनी भी सुख-शान्ति की उपलब्धि हो तो भी अपनी स्थिति से ऊँचा उठना चाहता है। वह अवसर की ताक में रहता है और अनुकूल पाते ही नीचे से ऊँचे की ओर अग्रसर होना चाहता है। ऐसी परिस्थिति में वह यह कभी विचार नहीं करता है कि मार्ग में उसे ठोकर लगेगी और मुँह के बल गिर पड़ेगा बल्कि वह सरपट दौड़ लगाता जाता है।

(७) *शुद्ध बुद्धि तो सदैव……………………आवश्यकता हो जाती है।*

यह अंश महात्मा गौतम का बचन है। महात्मा गौतम का जिस समय महाराज बिम्बसार के यहां आगमन हुआ था उस समय

वातों ही वात में वासवी ने कहा—'करुणा मूर्ति ! हिंसा से रंगी हुई वसुन्धरा आपके चरणों के स्पर्श से अवश्य ही स्वच्छ हो जायगी।' इस पर महात्मा गौतम ने शुद्ध बुद्धि वालों का पावन धर्म बतलाते हुए कहा कि यों तो सद्वृत्ति वाले मनुष्य संसार से अपना सम्बन्ध नहीं ही रखते हैं और न उन्हें सांसारिक कार्यों से कोई विशेष सम्पर्क ही रहता है। यह तो सत्य है कि शुद्ध बुद्धि वालों की विरक्ति के उपरांत भी सृष्टि का कार्य सम्पन्न होता ही रहता है और न उसमें कोई उलट फेर ही होता है। हाँ, ये जो विरक्त-व्यक्ति होते हैं वे संसार से अपना सम्बन्ध-सूत्र नहीं बनाये रखते, और न उन्हें सांसारिक झगड़ों से कोई प्रयोजन ही होता है फिर भी वे साक्षी के रूप में सांसारिक कार्यों को देखते रहते हैं। इस संसार में सत् और असत्, सत्य और मिथ्या के बीच द्वन्द्व-युद्ध होता रहता परन्तु शुद्ध बुद्धि वाले व्यक्ति की यही इच्छा रहती है कि संसार में सत्य और न्याय का पक्ष ही विजय प्राप्त करे क्योंकि तभी समाज में सच्ची शांति रह सकती है। नहीं तो समाज में छली, कपटी, लंपट आदि प्रवृति वाले मनुष्यों का ही राज्य रहेगा और सामाजिक वातावरण दूषित हो जायगा। यों तो साधु-सन्यासियों को समाज के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता फिर भी उनके मन में यह भावना व्याप्त रहती है कि सांसारिक संघर्ष में उसी की विजय होनी चाहिये, जिसका पक्ष न्याय का हो। यदि तटस्थ रहने पर ऐसा न हो और न्याय का समर्थन न किया जाय तो वह भी असत्य का पक्षपाती समझ लिया जाय। यही कारण है साधु-सन्यासी सत्य और न्याय की विजय चाहते हैं। गौतम शुद्ध बुद्धि के न्याय समर्थन के सम्बन्ध में कहते

हुए कहते हैं कि हम विरक्तों को वैसे तो राज्य भवनों में जाने की कोई विशेष अनिवार्यता नहीं फिर भी कहीं अन्याय का समर्थन न हो जाय इसीलिए कभी-कभी न्याय पक्ष के ग्रहण के लिये हमें राज्य-दर्शन करना पड़ता है, क्योंकि हम जैसे तटस्थों का यही प्रयोजन होता है कि संसार में सदाचारों की स्थापना हो ।

(८) *संसार-भर के उपद्रवों........................पहली सीढ़ी है।*

यहां पर गौतम ने बिम्बसार को एक सीख दी है । बिम्बसार ने व्यंग्य करते हुए कहा—'छलने ! तुम जा सकती हो । किन्तु कुणीक को न ले जाना—क्योंकि तुम्हारा मार्ग टेढ़ा है' । इस पर गौतम ने बतलाया कि संसार में जितने भी युद्ध होते हैं, उसका एक मात्र कारण है 'बचन की वक्रता'। शीतल वाणी के द्वारा मनुष्य दूसरे के हृदय को अपने अधिकार में कर लेता है । इसी वाणी के द्वारा वन के पशु भी मानव के अधिकार में आ जाते हैं । वाणी का प्रभाव हृदय पर गहरा पड़ता है। मनुष्य एक ही बात को दो ढंग से प्रकट करता है और दोनों का प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है । यही कारण है कि वाणी में संयम होना चाहिये। अगर मनुष्य की वाणी संयमित नहीं है तो उसका परिणाम प्रतिकूल होता है। इसीलिये अगर कोई भी मनुष्य अपना जीवन उन्नत बनाना चाहता है तो उसे अपनी बोली पर संयम रखना होगा, नहीं तो वह जीवन में असफल ही रहेगा। इसीलिए यह कहा गया है कि संसार पर विजय प्राप्त करने के लिए वाक्-संयम का होना अनिवार्य है।

(६) *नवीन रक्त, राज्यश्री.........—......देखना चाहता है।*

गौतम ने विम्बसार को यह आदेश दिया कि अजातशत्रु युव-राज बना दिया जाय, परन्तु बिम्बसार शासन-ग्रहण करने के पूर्व योग्यता को एक आवश्यक तत्व मानते हैं क्योंकि शासन चलाना एक साधना है। विम्बसार राज्य इसीलिए एकाएक देना नहीं चाहते हैं कि अजातशत्रु एक युवक है और उसका रक्त नया है, जिसमें जोश है, उच्छृंखलता एवं ओज है। वह शासन का भार ग्रहण करने में अभी अयोग्य है। क्योंकि जो भी नया खून वाला मनुष्य शासन पर आता है तो वह राज्य विस्तार चाहता है और युद्ध करता है या आन की रक्षा के लिए शुद्ध-बुद्धि का आश्रय न ग्रहण कर वह तलवार को सामने रखता है, जिसके फलस्वरूप कुछ-न-कुछ खून वहता ही है। इस प्रकार राज्य में कुछ न कुछ विप्लव अवश्य ही होता है और उचित रूप से शासन चलाना दुर्वार हो जाता है। इसी की ओर संकेत है।

चौथा दृश्य

(१०) *संसार को त्याग..................उसे भी समझता हैं।*

यह विम्बसार की उक्ति है। बिम्बसार अपनी पत्नी वासवी के साथ वार्तालाप करते हुए यह बतलाते हैं कि मनुष्य के लिए पुत्र का होना अनिवार्य है। पुत्र सिर्फ वात्सल्यमयी पुनीत धारा के पोषण के लिये नहीं है बल्कि वह विराग का, विरक्ति का एक साधन है। पुत्र के होने से संसार से विरक्ति सहज में मिल सकती है। पिता अपना अधिकार पुत्र को इसलिये नहीं देता है कि यह उसका जन्मसिद्ध अधिकार है बल्कि पिता समझता है कि

उस अधिकार को उसका पुत्र नहीं भोग रहा है वरन् वह स्वयं उसको भोग रहा है। अधिकार को सौंप कर वीतराग का जीवन यापन नहीं करता है बल्कि स्वयं उससे तटस्थ होकर अपनी आत्मा को सुख प्रदान करता है। यही कारण है बिम्बसार को अधिकार से वंचित होने का कोई दुःख नहीं है। पुत्र पिता का प्रतीक है, इसी लिये आत्म संतोष है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।

(११) *अदृष्ट तो मेरा सहारा..................करने आया हूँ।*

इस अवतरण में जीवक के द्वारा यह कहलवाया गया है कि अदृष्ट मानव-जीवन का पथ-प्रदर्शक है। मनुष्य स्वयं कुछ नहीं करता है बल्कि वह अदृष्ट के द्वारा प्रेरित रहता है और अपने कार्यों को न्यस्त करता है। जीवक भी नियति पर विश्वास रखता है और इसीका आश्रय ग्रहण कर वह अपना जीवन-यापन करता है। वह अपनी नियुति पर आस्था रखकर एक कर्मवीर की तरह अपने स्वामी के लिये कार्य करने को तत्पर है। वह अपने भाग्य पर भरोसा करता है, न कि कर्म पर। उसके जीवन में तकदीर साथ है, तदबीर नहीं। इसलिये भविष्य में कौन-कौन सी घटनाएं उसके जीवन-स्थल में आयेंगी, इसकी चिन्ता उसे नहीं है। वह यह मर्म के साथ अनुभव करता है कि जीवन में जितने भी कार्य सम्पन्न किये जाते हैं, उसका फल, उसका परिणाम उसके हाथ की वस्तु नहीं है, बल्कि जो होना होगा सो होगा। यही कारण है कि वह एक सच्चे कर्मवीर की तरह अपने कर्त्तव्य-पथ पर अटल है। और उसी अटल धर्म को निभाने का सतत प्रयत्न करता है। कतई

वह यह पसन्द नहीं करता है कि ठेस लग जाने के भय से अपना कर्म करना त्याग दे क्योंकि जीवक अपनी नियति पर पूर्ण विश्वास रखता है। जीवक अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित नही होना चाहता है। वह अपने सम्राट बिम्बसार की सेवा करना चाहता है और उसे देवव्रत तथा समुद्रदत्त की चालें पसन्द नहीं पर अजातशत्रु इन्हीं के चँगुल में फंसा है। इसी के विरोध में जीवक है और सर्वदा अपने वर्त्तमान शासक की अवहेलना कर बिम्बसार की सेवा करने को प्रस्तुत है।

(१२) प्रभु! इन स्वर्ण............देखने पाता।

इसमें नाटककार ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि मानव-जीवन पर धन का बड़ा जबरदस्त प्रभाव रहता है। वासवी कंकण उतार कर भिक्षुकों को दे देती हैं और वह अपने पति बिम्बसार से सरल स्वभाव में कहती है कि मनुष्य के जीवन में स्वर्ण और रत्न के आ जाने से 'अहम्' भावना का प्रकटी-करण हो जाता हैं और इसी के कारण वह दूसरे को हेय समझने लगता हैं। इसी वैभव की गर्मी के कारण मानव अपने आप को, अपने बन्धु-बान्धव को, अपने प्राणी को विस्मृति के गर्भ में ला रखता है। अतः मानव-जीवन में इसका अभाव ही सुन्दर एवं श्रेष्ठ है।

पाँचवाँ दृश्य

(१३) मैं एक अतीन्द्रिय जगत्........आलिंगन करने लगे।

यह उदयन का कथन है। कौशाम्बी सम्राट उदयन मागन्धी के रूप पर अपने आप को न्योछावर कर चुका है। मागंधी रूपवती

होने के साथ-साथ वाक्य पटु भी है। वह अपनी वाक्य-चातुरी से उदयन को प्रेम-पाश में बाँध लेती है और उसके प्राणों का मोह उसमें जाकर सिमट जाता है। इसी प्रणय-सूत्र में गुम्फित होकर वह प्रेमोन्मत्त स्वर में मागंन्धी के रूप-सौंदर्य का वर्णन करता है। इसका एक मात्र कारण है—मद्य का प्रभाव। इसके प्रभाव में आकर अपनी सुध-बुध को खो कर उसकी रूप-माधुरी पर भ्रमर की तरह गिर पड़ता है, उसे अपनी वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान नहीं रह पाता। भावों के उल्लास में वह इस संसार से पलायन कर कल्पनामय संसार की ओर प्रयाण करता है क्योंकि उसके मुख-छवि पर रीझ उठा है। वह उसके मुख-सौंदर्य को निहार कर अपना सब कुछ भूल चुका है। इसीलिए वह यथार्थ जगत का प्राणी न बन कर कल्पना-लोक का पंछी बन जाता है और कल्पनामय नीलाकाश में विचरण करता है। जिस प्रकार का सुख चन्द्रमा की सुन्दरता को देखने में उपलब्ध होता है उसी प्रकार का आनन्द उदयन को मागन्धी के रूप-लावण्य को देखने पर होता है। वह मदिरा के प्रभाव में आलोड़ित है और मागन्धी के सुन्दर मुखड़े को एक टक से देखता हुआ एक कल्पनामय नवीन जगत का निर्माण करता है जो उसकी इन्द्रियों की पहुँच के परे है। उसके अनुसार मागन्धी के मुख-सौंदर्य की कल्पना ठीक उसी प्रकार की है जिस प्रकार तारागण अपने शरत्-चन्द्रमा के साथ आकाश को प्रोद्भासित करता है। उदयन इस कल्पित-सौंदर्य में तल्लीन है और भावना की सीमा का अतिक्रमण कर वह और मागन्धी दोनों एक होंगे। मागन्धी का सुरभि-निश्वास और उसकी कल्पना का एकाकार होगा। उदयन की आन्तरिक

आकाँक्षा है कि वह सिर्फ उसके प्रेम में उन्मत्त न रहे बल्कि अपने आप को पूर्णतया मागन्धी में आत्मसात् कर देना चाहता है।

(१४) *मेरी मूर्च्छना में..........पागल हो जाय।*

प्रस्तुत अवतरण में मागन्धी उदयन की कल्पना के साथ 'हाँ' में 'हाँ' मिलाती है। उदयन को प्रसन्न करने के लिए वह कहती है कि उसके साथ उनका प्राण मिला हो, और उनका प्राण संसार को मुग्ध करने वाली वीणा के सदृश है। हम दोनों का प्राण एकाकार हो जाय और इसके हो जाने के उपरान्त हम सबों के संकेत पर, निर्देश पर सभी कार्य न्यस्त करने लग जायेंगे। इतना ही नहीं बल्कि हमारे एक इशारे पर झूम उठेंगे।

आंठवाँ दृश्य

(१५) *घोर अपमान! अनादर.........का भंडार हो गया।*

कौशल का राजकुमार विरुद्धक अपने पिता प्रसेनजित से राज्य संचालन का अधिकार परोक्ष रूप से माँगता है। प्रसेनजित उसकी इस धृष्टता से उत्तेजित हो, उसका गर्व तोड़ने और बड़प्पन तथा महत्त्वाकांक्षा से पूर्ण हृदय कुचलने के उद्देश्य से युवराज-पद से वंचित कर देते हैं। इतना ही नहीं उसकी माता भी राजमहिषी से वंचित की गई। वह वहाँ से अप्रसन्न मुद्रा के साथ अपने प्रकोष्ठ में आकर इस घोर अपमान, अनादर की इस पराकाष्ठा को असहनीय समझता है। उसका हृदय क्षोभ से भर गया है। इसलिए वह कौशल त्याग करने की बात सोचता जरूर है परन्तु उसका हृदय एक फूल के समान कोमल रमणी अर्थात् मल्लिका से आबद्ध है। अतः उसके हृदय में तरह-तरह की अभिलाषायें उद्-

भूत होती हैं परन्तु उसे आरंभिक जीवन में ही मल्लिका को प्राप्त करने की अभिलाषा थी और तरह तरह की कोमल कल्पनाओं का स्थान उसके हृदय-कोर में मिल रहा था पर वे सब स्वप्न ही प्रमाणित हुईं क्योंकि बाद में मल्लिका का विवाह सेनापति बन्धुल से हो गया। उसका हृदय नीरव इसलिए है कि एक तो प्रेम की आशा की सफलता दूर रही और दूसरे वह युवराज-पद से तिरस्कृत हो गया। जहाँ उसका हृदय जाकर गुँथ गया था और उसी के प्रेम में मधुर स्वप्नों का निर्माण करने लगा था वहाँ उस की भव्य मनोहर स्वप्न की भीत ढह गयी जिसके कारण विरुद्धक के हृदय में मूक अभिलाषाएँ उमड़-घुमड़कर बन्दिनी-सी हो गईं।

(१६) *मल्लिका! तुम्हें मैंने·········तुम्हारी सेवा करने लगा।*

यौवन प्रेम करने की अवस्था है और वह होता भी है बड़ा मनमोहक! मनुष्य अपनी प्रेमिका का स्मरण कर एक सुखद संसार का निर्माण कर उसमें एकाकी बन कर जीवन-निर्वाह करना चाहता है। उनके मस्तिष्क में प्रेममय कल्पना सर्वदा विचरण करती है और उनका मन इसी में लिप्त रहता है। विरुद्धक अपने जीवन के आरंभिक क्षणों में ही प्रणय-सूत्र में बँध चुका है और वह मल्लिका नाम की एक सुन्दर स्त्री से प्रेम करता है। उसका हृदय, मल्लिका के पास है और प्रेम में विभोर होने के कारण वह स्वयं भूला-भूला-~~सा है~~। उसका हृदय नीरव अभिलाषाओं से भरा हुआ है क्योंकि उसकी प्रिया मल्लिका का गठबंधन सेनापति बन्धुल के साथ हो चुका है। प्रेम की असफलता के कारण वह अभिलाषाओं से रहित प्राणी बन गया है। इसीलिए वह जिसे प्रेममय नेत्र से

निहारता था उसे न पाकर उसका हृदय वीरान हो गया है, उसका हृदय मूक अभिलाषाओं से भर गया है।

विलूद्धक फिर भी मल्लिका के सम्बन्ध में कहता है कि उसके हृदय में मल्लिका का दिव्य रूप आ कर जम गया। उसके रूप में लावण्य था, आभा थी, चमक थी, जो आसपास के वातावरण को आलोकपूर्ण कर रहा था। इसीलिए उसका अभिवादन सौन्दर्यमय प्रकृति के सुन्दर अवयवों ने किया। इस भूतल पर उसका सौन्दर्य सर्वथा अनुपम रहा, इसीलिए सभी ने उसका अभिनन्दन सहर्ष किया। शीतल वायु ने सोपान बन कर उसे मृत्युलोक में आने में सहायता प्रदान की।

दूसरा अङ्क

तीसरा दृश्य

(१७) *फिर भी उनका कोई स्वतंत्र………………कर्त्तव्य नहीं है।*

यह मल्लिका का कथन है। मल्लिका पति-परायण नारी है और उसके हृदय में पति-प्रेम भी है। उसके हृदय में प्रणय की भावना है और उसका प्रणय असीम है फिर भी वह अपने प्रणय-सूत्र में पति को गूँथ कर रखना अच्छा नहीं समझती है। मल्लिका अपने पति को प्रेम के दामन में रखकर कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं करणा चाहती है। उसे अपने आप पर गर्व है कि वह एक वीर पुरुष की पत्नी है। इसीलिए वह व्यक्तिगत ऐहिक सुखों के संकीर्ण घेरे में आबद्ध नहीं रखना चाहती है। अगर वह ऐसा करेगी तो उनके प्रति अन्याय होगा, घृणित विश्वासघात

होगा। वह इस तत्व से परिचित है कि उसके संकेत से वे कर्त्तव्य च्युत नहीं हो सकते हैं क्योंकि युद्ध का नाम सुनकर ही उनकी भुजाएँ फड़कने लगती हैं, उनका हृदय प्रसन्न हो उठता है। यदि वह उन्हें रोकने को भी प्रस्तुत होगी तो भी वे रुकनेवाले प्राणी नहीं। फिर वह इस प्रकार का कार्य सम्पन्न करना भी नहीं चाहती है। वह अनुभव करती है कि उसके पति का कर्म-पथ कठोर है फिर भी वह उनके पाँव का कंटक बन कर उस ओर चरण बढ़ाने को मना नहीं कर सकती है। वह अपने पति को खिलवाड़ की वस्तु नहीं समझती है। वह अपने पति के स्वतंत्र व्यक्तित्व को शृंगार मंजूषा में बन्द करके नहीं रख सकती है। वह तो उसे अनुराग और सुहाग की वस्तु मानती है। मल्लिका उपदेश के रूप में महामाया को कहती है कि स्त्रियों का कर्त्तव्य सिर्फ अपने पति को प्रणय-सूत्र में गुम्फित रखना ही नहीं बल्कि कर्मपथ में सोत्साह सहायता प्रदान करना है।

चौथा दृश्य

(१८) *फूल की तरह आई हूँ……………देने में ही सुख है।*

यह मागन्धी का स्वगत-भाषण है। वह अपने जीवन की कहानी का एक रूप प्रस्तुत करती है। वह अपने जीवन को फूल की तरह मानती है। फूल फूलता है और संध्या होते ही परिमल-हीन हो जाता है, इसके बाद उसके जीवन का अवसान होता है। मागन्धी भी इस संसार में फूल की तरह है और उसके जीवन का परदा भी उसी तरह गिर जायगा। वह अपने जीवन की असंभव से असंभव कल्पनाओं को भी सार्थक बनाना चाहती है। वह

अपने अभीष्ट की प्राप्ति में निर्मम है। वह अपने सुख की प्राप्ति के लिए प्रत्येक वैध या अवैध मार्ग का आश्रय ग्रहण कर सकती है। प्रस्तुत पंक्तियों में मागन्धी ने आत्मसुख की चिर-अभिलाषा को अभिव्यक्ति दी है। वह अपने सुखों की प्राप्ति में किसी प्रकार का संकोच प्रकट नहीं करती है। उसे इसकी चिंता नहीं है कि तत्संबंधी साधन जुटाने के लिए कितने प्राणों की बलि देनी पड़ेगी कितने हँसते हृदयों को रुलाना पड़ेगा और कितने हृदयों को मसलना - कुचलना पड़ेगा। उसका सुख प्राणों के बलि देने में ही केन्द्रित है।

पाँचवां दृश्य

(२०) *पतितपावन की अमोघ.........जीवन का विश्वास है।*

यह मल्लिका का कथन है। मल्लिका को यह पूर्ण रूप से ज्ञात है कि इस विश्व-ब्रह्मांड की सभी वस्तुएँ क्षण भंगुर हैं नाशवान हैं और हैं मायावी। सभी को एक न एक दिन नष्ट होना पड़ेगा। संसार की दृश्य वस्तुएँ काल के गाल में अवश्य प्रवेश करती हैं। मनुष्य संसार के क्षणभंगुर होने के चरम तथ्य से पूर्णतय परिचित है फिर भी वह अनजान बना रहता है। लेकिन जब यह चरम सत्य व्यक्ति के जीवन में प्रत्यक्ष होने लगता है तो उसकी नींद टूटती है और अनुभव करने लगता है कि वस्तुतः इस संसार की प्रत्येक वस्तु नाशवान है। इस सत्य का प्रभाव मानव-जीवन पर पड़ता अवश्य है परन्तु उसका प्रभाव स्थायी नहीं रहता वरन् क्षणिक होता है। इसका कारण है। वह है कि मनुष्य काल के चक्र में अपने जीवन की पूर्व घटनाओं को भूल

जाता है और सांसारिक कार्यों में उलझ जाता है। और मल्लिका इसे ही मोह की दुर्बलता स्वीकार करती है जो व्यक्ति को अपनी परिधि में बंद रखता है। अगर मनुष्य इस नश्वरता से परिचित होकर भी सचेत एवं सजग होकर अपने कार्यों को न्यस्त करे तो उसे इस संसार में जन्म ग्रहण का भोग नहीं भोगना पड़े। अस्तु, वह इस सांसारिक बंधनों से दूर रह कर शान्ति-लाभ करे, क्योंकि वह तो मूल तत्वों से पूर्णतय परिचित है।

छठाँ दृश्य

(२१) *प्रत्येक असम्भावित घटना.........पाप कहते हैं।*

उपर्युक्त कथन बिम्बसार का है। वह अपनी पत्नी से संभाषण के सिलसिले में कह रहा है कि समय की गति बराबर नहीं हैं। वह सर्वदा अपनी गति के क्रम को बदला करता है। वह कभी स्थिर नहीं रहता है बल्कि वह गत्यात्मक (Dynamic) है। समय ने स्थिर रहना सीखा ही नहीं हैं। बिम्बसार दार्शनिक प्रवृत्ति का मानव है और इसीलिए वह इस तरह की बातों को कहता है। संसार के बड़े-बड़े दार्शनिकों ने समय की गति के अन्दर छिपे रहस्य को जानने का प्रयास किया अवश्य परन्तु वे इतना ही जान सके कि समय की गति बराबर नहीं है बल्कि उसकी गति कभी तीव्र हो जाती है और कभी कम। इस अन्तर के मर्म को कोई नहीं जान सका है। समय की गति में कैसी असमानता है, क्यों असमानता है यह कहना दुर्वार है। ठीक इसी प्रकार संसार का चक्र भी चलता है। किस समय, किस पल, किस क्षण कौनसी घटना घट जायेगी-यह किसी को विदित नहीं है। संसार में ऐसा

देखा गया है कि अभी कोई घटना घटी पर कुछ समय के उपरान्त वह गायब भी हो गई, जिसके संबंध में मनुष्य सोच भी न सका। संसार में जो भवँर, विप्लव, उच्छृंखलता, ववंडर आदि है वह मूल रूप में प्रायः एक ही है, पर स्थान भेद और परिस्थिति-भेद के कारण उसका नामकरण भिन्न-भिन्न हो गया है।

विम्बसार अपने राज्य से परिवर्तन को दृष्टिपथ में रखता हुआ कहता है कि उसे यह ज्ञात न था कि राज्य का भार अभी ही कुणीक के कंधों पर रख देना होगा, परन्तु ये सब कार्य जो न्यस्त हुए उसमें समय और परिस्थिति का बड़ा हाथ है। वह कभी आशा नहीं करता था कि राज्य से अलग होना पड़ेगा पर अब जब इस प्रकार की घटना घट गई तब वह कर ही क्या सकता है। इसी को लेकर विम्बसार कहता है कि उसके जीवन में जो असंभावित घटनाएँ आई हैं वह वास्तव में ववंडर के सदृश है। जिस प्रकार ववंडर के आने का कोई निश्चित समय नहीं होता है उसी प्रकार असंभावित घटनाओं के आगमन का कोई समय नहीं है। इसके आगमन का समय किसी को भी ज्ञात नहीं होता है। वस्तुतः समय की गति को परिवर्तन शील बनाने में इन्हीं असंभावित घटनाओं का हाथ रहता है। यही कारण है कि हम समय की गति के नियमों को अपवाद कह सकते हैं।

पद्य भाग

१ बच्चों बच्चों से खेलें ....हो क्यों घर ? (अंक १: दृश्य १)

प्रस्तुत पंक्तियों में वासवी ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि पारिवारिक जीवन की कटुता की समाप्ति और सुख-शान्ति की स्थापना किस प्रकार हो सकती है। वासवी यह संकेत करती है कि निम्नलिखित गुणों की उपस्थिति में ही एक परिवार आदर्श बन सकता है।

एक परिवार के बच्चे आपस में खेलें। उनके हृदय में विद्वेष की भावना न हो बल्कि स्नेह का स्रोत ही उमड़ता रहे। उन बच्चों के हृदय में स्नेह का प्रचार हो। बच्चों में स्नेह-सूत्र को पाकर कुल-लक्ष्मी का हृदय भी आनन्द से भर जाता है। उनका जीवन सुखमय हो। कुटुम्ब के बन्धु-बान्धवों में मान-मर्यादा का भाव विद्यमान हो, एक दूसरे को सम्मान के पद पर बैठावें। उस परिवार के सेवक भी सुखी एवं नम्र हों। इसके अतिरिक्त, उस परिवार के स्वामी का हृदय भी चंचल न हो बल्कि उसके हृदय में शान्ति की भावना विराजमान रहे। इन सब गुणों की स्थिति में ही एक परिवार आदर्श बन सकता है।

२ गोधूली के राग-पटल.....अरुणा करुणा से (अंक १: दृश्य २)

इन चरणों में गौतम के द्वारा करुणा की विश्व-व्यापकता दिखलायी गई है। करुणा को यहां सजीव नारी के रूप में देखा

गया है। संध्या समय क्षितिज में छाई लालिमा समस्त अगजग को अपने रंग में सराबोर कर लेती है मानों ममतामयी माँ के प्रेमांचल के समान है; जिसके नीचे यह शिशु-सा संसार पान कर रहा है। फिर जब पौ फटती है और निर्मल आकाश के आँगन में जीवन-जागरणमयी लाली छा जाती है और जगत का कण-कण नवीन उल्लास से भर उठता है, तब भी हम उषा-बाला के रूप में करुणा की ही मधुर-मदिर मुस्काती मूर्ति देखते हैं। सुन्दर निर्बोध बालक जब अपने बचपन के रंगीन सपनों की दुनियां में मुग्ध-भाव से उड़ान भरता रहता है तब उसके भोले मुखड़े पर टहटह चाँदनी जैसी जो स्वर्गीय आभा फूटती दिखाई देती है उसमें भी करुणा का ही सात्विक प्रसार है। इसी प्रकार निशा-काश की अपलक आँखों में थमे आसुओं के समान तारों में और धरती पर बरसे ओस-बिन्दुओं में भी करुणा का ही विस्तार है।

सृष्टि के प्रारंभ में पृथ्वी तल पर पशु-सृष्टि ही प्रधान थी। आदिम आदमी भी हिंस्र और क्रूर पशु ही था। प्रेममयी करुणा के संचार ने ही मनुष्य को मनुष्य बनाया और इसी एक विभूति को पाकर मानव जीवन की दौड़ में सबसे आगे निकल गया, सृष्टि का रत्न बन बैठा।

३ न धरो कह कर इसको……एक उसीको जपना (अंक १ दृश्य४)

यह पद भिक्षुओं का गाया हुआ है। इसमें यह बतलाया गया है कि संसार की प्रत्येक वस्तु क्षण भंगुर है। सभी वस्तुओं को एक न एक दिन नष्ट होना है। इन भिक्षुओं का कथन यह है कि मानव के पास जो वैभव है वह भी स्वप्न-मात्र है। वह

आज न कल नष्ट अवश्य हो जायेगा। इस वैभव की दशा एक बरसाती नाला के सदृश है या जिस प्रकार वर्षा ऋतु में पहाड़ी झरना भर जाता है उसी प्रकार यह वैभव भी मानव-जीवन के लिए है। संसार में अगर मनुष्य के पास वैभव है, तो उसे गर्व नहीं करना चाहिये क्योंकि इसका परिणाम बड़ा बुरा होता है। गर्व जीवन-पर्यन्त नहीं रह पाता है, उसका विनाश एक न एक दिन अवश्य होता है। इसीलिए वैभव के मद में दूसरे की उपेक्षा न करो। अगर उपेक्षा की दृष्टि से देखोगे तो जीवन के अन्तिम काल में रोना पड़ेगा। मनुष्य को वैभव है तो उसे गरीबों के दुःख को दूर करना चाहिये। अगर मनुष्य ऐसा कार्य नहीं करता है तो उसे आहें भरनी पड़ती हैं। इसीलिए उसे चाहिये कि वह ऐसा अवसर ही नहीं आने दे। संसार में रह कर मनुष्य को लोभ नहीं करना चाहिये बल्कि इन सब बातों में उसे उदार बनना चाहिये और इसी उदार भावना को अपने पूर्ण जीवन के साथ आत्मसात् कर लेना चाहिये।

(४) मीड़ मत खिंचे वीन……परदे के उस पार (अंक १ दृश्य ६)

उदयन द्वारा उपेक्षित होने के कारण जब पद्मावती का हृदय वेदना से बोझिल हो जाता है तब वह मन बहलाने के लिए वीणा लेकर बैठती है और बजाना चाहती है। कई बार प्रयास करने पर भी वह सफल नहीं होती है। 'जब वीणा से भी शून्यमय रागिनी नहीं बज पाती तो वीणा रख देती है और प्रस्तुत गीत गाने लगती है—

इस गीत का प्रधान भाव यह है कि पद्मावती अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति वीणा बजा कर करना चाहती है, पर वह यह नहीं चाहती है कि उसके हृदय की पीड़ा का प्रकाशन हो क्योंकि इस प्रकाशन में जहाँ एक ओर उसका मान और उसकी लज्जा खंडित होती है वहाँ दूसरी ओर उपेक्षा करनेवाले (उदयन) पर इसका कोई अनुकूल प्रभाव पड़ने की आशा भी नहीं है।

(मीड़ से खिचे.........निकलेगी निस्सार) इसीलिए

अपनी अंगुलियों को सम्बोधित कर पद्मावती कहती है कि वे निर्दय हैं क्योंकि वीणा के तारों के सहारे वे मेरी जिस वेदना को व्यक्त कर देना चाहती हैं उसके प्रकाशन से कोई लाभ नहीं। उसका निजी दुःख अभिव्यक्त होकर किसी के हृदय को सहानुभूति पूर्ण बना सकेगा, इसकी उसे आशा नहीं है। इसीलिए वह चाहती है कि वीणा के तारों में मोड़ की स्थिति न आवे न पहुँचे अर्थात् वीणा के तारों के द्वारा करुणतम संगीत की सृष्टि न हो। जब हृदय की वेदना को वाणी मिलती है, वह अंगुलियों से आग्रह करती हैं कि वे अंगुलियां दया करें, वे इतनी निर्दय न हों कि उसके हृदय की वेदना को नाहक दुनिया में प्रकट कर दें। उसकी वेदना उसकी अपनी निधि है। उसका प्रकाशन क्यों हो? यदि मूर्छना जो मूर्च्छित अर्थात् वेदना-विह्वल मूर्च्छित हृदय से निकली हुई हैं, अभिव्यक्त होंगी तो दुःखी व्यक्ति की आह के समान ही वह भी सारहीन होगी क्योंकि दुःख की कीमत को दुनियाँ में कौन समझता है।

(छेड़-छेड़ कर·········स्वर-संसार)·पद्मावती फिर कहती है। कि हे अंगुलियां ,वीणा के मौन तारों को छेड़कर, प्रेम के गुप्त सन्देश को जगाकर संगीत में उसकी अभिव्यक्ति करके उसे बिखरा देने से क्या लाभ? हृदय की निधि (प्रेम या वेदना) को संगीत बनाकर हवा में बिखेर देने से क्या मिलेगा? संगीत की दुनिया शून्य पवन में खो जायगी, बिना किसी पर असर डाले। इसीलिए वह चाहती है कि उसके हृदय की वेदना उसके हृदय में ही रहे, उसकी अभिव्यक्ति संगीत के द्वारा नहीं चाहती।

(मचल उठेगी·········उस पार) इस अभिव्यक्ति से भी दुःख ही हाथ आयेगा, उसकी करुण व्रीड़ा (लज्जा) मचल उठेगी अर्थात् उसका उपेक्षित मान मर्दित हो जायगा। उसकी लज्जा का आवरण मिट जायगा, मुग्धा नारी के लिए यह बहुत ही करुण स्थिति होती है। और इस अभिव्यक्ति से उदयन का हृदय भी तो दुःखी होगा। पद्मावती का प्रेमपूर्ण हृदय इतना भी बर्दाश्त नहीं कर सकता कि अपनी वेदना की अभिव्यक्ति द्वारा वह अपने प्रियतम के हृदय को दुःखी कर देगी, अपनी चिन्ताएँ उसके सर पर नहीं डालना चाहती है। अभी तो पद्मावती का दुःख पद्मावती के हृदय में ही सीमित है। लज्जा या व्रीड़ा का आवरण (पर्दा) उदयन की आँखों से पद्मावती के इस दुःख को ओझल रक्खे लेकिन पद्मावनी ही अपने दुःख को अभिव्यक्त कर देगी तो क्या इस दुःख की मलिन छाया से उदयन का हृदय भी विकल नहीं हो जायगा? अवश्य ही पद्मावती की विकलता जो परदे में छिपी है, गीत के रूप में प्रकाशित हो कर नग्न हो जायगी और उदयन के हृदय में भी दारुण

नर्त्तन होगा। प्रेमपूर्ण पद्मावती इसको कैसे गवारा करेगी? इसीलिए तो वह नहीं चाहती कि संगीत के द्वारा अपनी करुणा की अभिव्यक्ति करे।

विशेष—(i) निर्दय उँगली—इसमें लक्षणा है, लक्षणा शक्ति का उपयोग। उँगली निर्दय नहीं हो सकती, इसीलिए अभिधा का बाध्य है, निर्दय व्यक्ति की उंगली के समान यह उंगली काम करती है, यही इसका लक्ष्यार्थ है।

(ii) मूर्च्छना—संगीत का वह विशिष्ट आरोह-अवरोह जब करुणा की चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो वह मूर्च्छना हो जाता है।

(iii) मूर्च्छित मूर्च्छना-इसमें लाक्षणिक वैचित्र्य है=मूर्च्छित व्यक्ति की मूर्च्छना अर्थात् वेदना-विह्वल व्यक्ति द्वारा गाये गए संगीत में मूर्च्छना की अवस्था।

(iv) मधु मौन मन्त्र (लाक्षणिक वैचित्र्य)—प्रेम का गुप्त सन्देश मन्त्र मौन नहीं है बल्कि व्यक्ति मौन है अर्थात् वह अभी प्रेम के सन्देश का प्रकाशन नहीं कर रहा है।

(v) शून्य पवन=संवेदनहीन हवा जिसमें प्रेम के सन्देशों से प्रभावित होने की क्षमता नहीं है।

(vi) व्रीड़ा—एक संचारी भाव जिसके अंतर्गत पुरुष या नारी में प्रेम संबंधी अपराध या आचरण को लेकर लज्जा का बोध आता है।

(vii) सकरुण-व्रीड़ा—पद्मावती की लज्जा या मान अत्यन्त

करुण है क्योंकि उदयन द्वारा उसकी उपेक्षा हुई है। उदयन को लेकर ही तो उसके मान की सार्थकता है।

(viii) नृत्य करेगी नग्न विकलता—विकलता नृत्य नहीं कर सकती इसीलिए अभिधा का बाध्य है। यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जायगा कि विकलता भीषण रूप से बढ़ जायगी।

(ix) नग्न विकलता—जब तक विकलता की अभिव्यक्ति नहीं हुई है वह हृदय के परदे में सोई हुई है लेकिन संगीत द्वारा अभि-व्यक्ति के बाद विकलता नग्न हो जायगी अर्थात् वह असली रूपों में अनुभूत होगी।

(५) *बहुत छिपाया, उफन⋯⋯यह विजय नहीं है* (अंक २ दृश्य २)

प्रस्तुत पंक्तियों में श्यामा विरुद्धक से प्रणय-निवेदन करती है। वह कहती है कि मैंने अपने प्रेम को छिपाने की चेष्टा की पर अंत में वह छिप न सका। जब उसके प्रेम का वेग सम्हाले नहीं संभला तब वह प्रेम मदिरा के समान उफन पड़ा। अब वह उसके हृदय के छोटे से घेरे में नहीं समा सकता क्योंकि वह प्रेम अब अग्नि के समान दाहक बन गया है। अतृप्त प्रेम जलाने वाला होता ही है इसीलिए जैसे अग्नि का तेज संसार भर में फैल जाता है उसी प्रकार उसका अतृप्त प्रेम भी प्रकट हो गया।

श्यामा विरुद्धक को फिर संबोधित कर कहती है कि तुम्हारा प्रेम न पाने के कारण मेरा हृदय शून्य आकाश के समान हो गया है जिस में चंद्रमा नही हँसता बल्कि काले काले बादल न बरस पड़ें अर्थात् कहीं उसकी वेदना ज्वाला न बन जाय अथवा आँसू न ढुलक पड़ें।

हे विरुद्धक ! जब दुनियावाले कहेंगे कि तुमने एक प्रणयिनी का प्रेम ठुकरा दिया तब तुम्हे दुनिया कठोर कहेगी तो क्या यह अच्छा होगा ? इसी भाव को एक अन्योक्ति के सहारे व्यक्त किया है । कहीं वर्षा के लिए कोकिला तड़प रही है, कहीं पपीहा रट लगा रहा है लेकिन बादल इतना कठोर है कि वह बरस नहीं पड़ता है । क्या बादल की यह कठोरता, क्या यह उपालंभ बादल को प्रिय होगा । मेरे विरुद्धक तुम उस बादल के समान कठोर न बनो और तुम्हारी रट लगाने वाली इस श्यामा को निराश न कर ।

श्यामा कहती है कि उसने अपने प्राणों में प्रियतम के प्रेम के स्वागत की सारी तैयारी कर ली है, अपने को प्रियतम के अनुकूल बना चुकी है । प्राणों की दीवाली जलाई है, हृदय रूपी कुटिया को निर्मल बना लिया है, हृदय का सब मैल धो डाला है, अब न तो उसके हृदय में गन्दी वासनाएँ हैं और न उसके प्राणों में निराशा का अंधकार ही है । उसकी आँखों में भी विरुद्धक की ही मूर्ति बस गई है । अब उसके जीवन में और कोई नहीं है । अब वह प्रेम करने से डरती नहीं है ।

अंत में वह कहती है कि हे चंचल प्रियतम ! तुम मेरे जीवन से भाग कर न जाओ, मेरी उपेक्षा करने में तुम्हारी जीत नहीं, हार है । क्या मेरे प्रणय को चरणों से कुचलना चाहते हो ? अच्छा, कुचल दो । इस प्रेम भरे हृदय को तुम्हारे कोमल चरणों का स्पर्श पाकर हृदय से एक दबी आह निकलेगी और कुछ नहीं !

(६) *चला है मंथर गति से······अपने मन का* (अंक २ दृश्य ४)

श्यामा के इस गीत में वासना का उन्माद और उन्माद का आमंत्रण है ।

वायु धीरे धीरे वह रही हैं और उसमें इतना रस है, इतनी मिठास है मानो वह अमरपुरी की हवा हो । अवश्य ही यह नन्दन वन का ही मन्थर समीर है । कितना उन्माद भरा है इसमें ! भौरों को यह पागल बना रही है जो फूलों पर गा-गाकर आनन्द मना रहे हैं। इस हवा के स्पर्श से जवानियाँ जाग रही हैं, जवानी की किरणों के स्पर्श से सभी के मुख के कमल खिल रहे हैं। आज किसका मुख उदास है ? यह नंदनकानन की चली हुई हवा सचमुच मस्ती से भरी है। और, उधर आकाश में तो देखिये, उपा सुनहली मदिरा पिला रही है, सूर्य की लाल किरणें नहीं हैं ये जो पूर्व में चमक रही हैं । यह तो साकी बाला उषा ने मदिरा बिखेर दी है जिसको पीकर सभी मतवाले हो रहे हैं और शास्त्र के विधि-निषेधों को भूल मानने लगे । आज शास्त्र और नीति के बंधन को कोई मानने को तैयार नहीं है, सभी अपने मन की इच्छा की पूर्ति में स्वच्छन्दतापूर्वक काम कर रहे हैं क्योंकि आज प्रकृति फूलों की वर्षा कर रही है और नंदन कानन से मादक समीर बह रहा है।

(७) निर्जन गोधूली प्रान्तर······देंगे आँसू-हार । (अंक२ दृश्य ४)

श्यामा के इस गीत में शैलेन्द्र एवं श्यामा दोनों का विश्वस्त परिचय है। अपमान की तितिक्षा ने विरुद्धक को शैलेन्द्र बना कर बीहड़ पथ पर ला खड़ा किया है। वह जीवन-पथ एकाकी है। यह उसके जीवन की संध्या है । वह आशा और आत्म-निर्भरता की डगर पर चला जा रहा है। फिर भी उसके हृदय में रूप की प्यास (जिसे मल्लिका ने जगाई थी) विद्यमान है। अब उसके

जीवन में प्रेम की प्रतिमा बन कर मागधी (श्यामा) आ गई है। श्यामा शैलेन्द्र को अपना बनाना चाहती है, इसी हेतु वह गहन वन में उसके पास प्रणय-याचना के लिए आई है। इसी करुण-विह्वल विवशता को प्रकट करती हुई वह अपना विश्वस्त परिचय देती है—

यह संध्या की वेला है। चारो ओर शान्त वातावरण है। इस समय तुम अपनी कुटिया के द्वार पर उत्कंठित हो निर्निमेष दृष्टि से किसी ऐसे पथिक की राह देख रहे हो जिसे तुम्हारे ही समान उसके जीवन में अपमान एवं धोखा मिला हो। (अतः भाव यही है कि कुमार और श्यामा दोनो उपेक्षित हैं, इसलिए उपेक्षित कुमार को उपेक्षित सहचरी की जरूरत है) तुम्हारे हृदय में भावों की आँधी चल रही है, उसका उत्थान-पतन हो रहा है तथा तुम्हारी आँखों की पलकें यवनिका रूप में झुक गई हैं। पर छिपाने का यह उपक्रम व्यर्थ है। इधर मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति प्रेम की भावना और आँखों में अश्रु की मालाएँ हैं जिसे लेकर मैं तुम्हारे निकट आई। फिर भी तुम मुझ से परिचय पूछ रहे हो? इस विस्तृत संसार में अपने जीवन की गाथा (तुम्हें छोड़ कर) किसको सुनाऊँ, सभी अपनी डगर पर चले जा रहे हैं। कौन किसकी चिन्ता करता है, परवाह करता है, सुनता है। इतना संकेत करने पर भी तुम मेरे हृदय की बातों को क्यों नहीं समझते? जरा अपनी नजर डालो भी तो सही, मेरे हृदय में 'प्रेम की पीर' है जो अब भी नहीं मिटी है। मेरी साँसों में अतृप्ति एवं अभाव की आँधी चल रही है। यही अभाव मेरे

जीवन में खल रहा है इसलिए मैं तुमसे विनती करती हूँ कि दो क्षण के लिए अपने हृदय में एकान्त रूप से स्थान दो ताकि मेरी सारी वेदनाएँ निश्चेष्ट होकर शान्त हो जायँ जिससे मुझे अपार आनन्द की प्राप्ति हो ! हे शैलेन्द्र। समय व्यतीत हो चला। नीला आकाश अन्धकार से आच्छादित हो उठा है। 'वीणा के तार ढीले पड़ गए हैं। मैं व्यग्र हो उठी हूँ। प्रेम के सारे हाव-भाव, सारी विलास-चेष्टाएँ भूल गई हूँ। उनके लिए अब यथेष्ट समय भी नहीं है। अब तो रात की तरह अंधकार में लीन हो जाना है। और तब विवश अश्रु की लड़ियां ही मेरा परिचय देंगी, अपने बूंदों से मेरे जीवन का इतिहास लिखेंगी'।

(८) *चल वसन्त वाला अंचल.......अवशेषों के पास* ।

(*अंक ३ दृश्य ६*)

यह नेपथ्य गीत है। इसमें प्रकृति की क्षणभंगुरता का मर्म दरसाया गया जिसके सहारे यह संकेत किया गया है कि मानव जीवन भी असार है, तत्थहीन है, मायावी है और है क्षणभंगुर ।

जब सूर्य अस्त होता है तब मलयागिरि पर्वत (दक्षिण का) से ठंढी-ठंढी हवा आती है, जिसमें मस्ती है सुगन्ध है। वह हवा ऐसी प्रतीत होती है मानो बसन्त-कुमारी के अंचल से छन-छन कर बह रही हो। परन्तु इसका हृदय कितना निष्ठुर है, पता नहीं ! हवा भौंरों के साथ अपना संबंध स्थापित करती है। 'उषा के उस लाल तट पर अर्थात संध्या की लालिमा में भौंरों के गुंजार के साथ हवा की लहरें आती तो हैं किन्तु पवन यह प्रलोभन देकर कि पत्तियों के सूखने पर डालियों में फूल खिलेंगे, पत्ती-पत्ती का भी

रस चूस लेता है'। विचारी भोली पत्तियां उनके प्रलोभन-जाल में फँस कर रस का दान कर स्वयं पीली पड़ जाती हैं अर्थात् वसन्त ऋतु में हवा के कारण पत्ते पीले पड़ जाते हैं। जो पत्तियाँ कलियों पर आवरण (पर्दा) देकर हरी-हरी डालियों में लगी थीं, जो वन-देवी के झूले के शृंगार का अवयव बन रही थीं उन्हें इस घातक वायु ने अनेक आशाएं देकर गले लगाया। उन्हें झूले में झुलाया भी और अवसर पाकर भुलावे भी दिये। इससे उन पत्तियों का हृदय गद्गद् हो उठा। उस समय उसने किसी की नेक सलाह न सुनी, न रोके रुकी तथा वायु को अपना प्रिय मित्र समझी जिसका परिणाम यह हुआ कि वे पत्तियाँ झड़ गईं और हवा के झोंके से किधर जाकर गिरीं यह पता न चला। वसन्त की हवा से वे कुम्हला गईं, सूख गईं ऐंठ गईं और वृक्षों की डालियों से विलग हो निरीह बनकर पृथ्वी पर जा पड़ीं। (वसन्त की हवा से मित्रता करने का यही दुःख प्रद परिणाम होता है)। यह कहा जाता है कि विनाश के पीछे सृजन है तो वस्तुतः इस विनाश में नये पल्लवों का जन्म लेना छिपा हुआ है। जब वसन्त की हवा ने हरी पत्तियों की निर्मम हत्या की तब अपने अतीत जीवन से बहुत दूर निष्प्राण पत्ते फूलों की हंसी देख पायेंगे! बिल्कुल नहीं। यथार्थतः नियति की यह सृष्टि दुःखमय है, निरर्थक है। इन सूखी पत्तियों की नस-नस में (रेशे-रेशे में) नियति की निर्मम निर्दयता का इतिहास अंकित है। हे वायु? अब तुम उन पत्तियों के अवशेषों (मृत शरीर) के पास आह बन कर चक्कर काटोगी। (कहने का तात्पर्य यह है कि वसन्त ऋतु के अनन्तर ग्रीष्म ऋतु का आगमन होगा तब हवा गर्म ही रहा करेगी)।

(६) *अलका की किस.........चपला सी स्मृति से ?*

(अंक ३ दृश्य ६)

सजल बादल को सम्बोधित कर कवि कहता है कि तुम इतने दिनों तक इंद्रपुरी की किस विकल विरहिणी की पलकों का आश्रय ग्रहण कर सोये पड़े थे ? पर जिस तरह कमल के संकुचित होने से उनके दलों से चू पड़ने वाली बूंदें गिरती है उसी तरह आज तुम एकाएक बरस क्यों पड़े ? हे बादल ! तुम्हारी सृष्टि तो जल के कणों के समिश्रण से हुई है तो भला तुममें इतनी उष्णता कैसी है ? तुम किस सोच से दबे जा रहे हो ? (क्षितिज के छोर पर झुक कर बादल बरसने को हैं इसी को देखकर कवि ने ऐसा कहा है) तुम आर्द्र करुणा के प्रतीक हो। तुम हृदय हीन व्यक्ति की शिथिल भावनाओं के सदृश वर्फ बने थे परन्तु न जाने आज कौन सी ज्वाला तुम्हें चारो ओर से घेरे हुए हैं जिसके कारण तुम पिघल कर पानी पानीं हो रहे हो ? तुम्हारे 'हृदय की वेताबियाँ आकाश में बिजलियाँ बनकर कौधती हैं' और तुम्हारे हृदय की करुण रागिनी चातक की करुण पुकार में अभिव्यक्त हो उठी है। अरे तुम तो स्वयं आकाश के तारे रूपी अश्रु - बिन्दुओं को पोछते हो फिर भी तुम किस दुःख से पीड़ित होकर रो रहे हो ! हे बादल ! तुम्हारी तीव्र गति में तो अनन्त आकाश को नाप लेने की क्षमता है। भला किसके हृदय सागर में प्रेम की पीड़ा (वड़वानल का ज्वाला) है जो शान्त नहीं हुई । उसका परिणाम यह हुआ की उसका करुण भाव (पानी) हाहाकार (वाष्प) के रूप में परिवर्तित होकर प्रेम रूपी सूर्य की लाल रश्मियों पर चढ़ कर इस अनन्त आकाश को माप रहा है ! यह ठीक है कि किसी विरहिणी के हृदय को आह

ही नीलाकाश में बादल बनकर आच्छादित है। ये सब रसभरी बूंदें नहीं हैं बल्कि ये तो योगिन का बाना धारण कर आंचल में जुगनू का दीप लिये मार्ग में पुष्प और प्रकाश छीटती अपने प्रिय की समाधि पर शोक से सिक्त अश्रु जल ढारने जा रही है। हे सजल बादल! तुम प्रवासी वनजारों (व्यापारी) के समान थके हुए हो और मंथर गति से धीरे धीरे चल रहे हो। चपला (विद्युत) के समान किस अतृप्त प्रणय की अतीत स्मृतियां बर-बस जाग्रत हो उठती हैं। हे मेरे दुःख के संगी! क्या तुम उसकी गाथा न सुनाओगे।

प्रसादजी का चंद्रगुप्त

[श्री कृष्ण कुमार सिन्हा]

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने प्रसाद जी कृत चंद्रगुप्त नाटक पर आलोचना लिखी है। इसमें शास्त्रीय पद्धति के आधार पर दृष्टि निपात किया है। इसमें निम्नांकित निबन्ध तथा व्याख्या है, जिससे विद्यार्थियों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचेगा। निबन्ध हैं =

(१) चंद्रगुप्त की नाट्यकला (२) ऐतिहासिक आधार
(३) नायक कौन (४) चरित्रांकन (५) गीत-सौष्ठव
(६) भाषा-शैली (७) उद्देश्य (८) अभिनयात्मकता
(९) तत्कालीन वातावरण (१०) व्याख्या [पद्य और गद्य]
(११) चन्द्रगुप्त पर अन्य विद्वानों के निबन्धों का संकलन।

मूल्य—२॥)

